विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

मुख पृष्ठ : अभिसारिका नायिका

ऊपर का चित्र : पौष मास (कांगड़ा-गुलेर) विवरण पृष्ठ 96 पर

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-6, अंक-35, नवम्बर-दिसम्बर, 1990

मुख्य संपादक
सी०आर०बी०ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय
5 संपादकीय

नोबेल पुरस्कार 1990

7 ओक्तावियो पाज़ की चार कविताएँ
11 सहभागिता की प्यास : ओक्तावियो पाज़ : **विनोद शर्मा**
14 ओक्तावियो पाज़ की कुछ और कविताएँ

साक्षात्कार

17 **मुकुटधर पांडेय** से **महावीर अग्रवाल** की बातचीत

लेख

21 हिंदी रंगमंच : परिस्थिति और दायित्व : **नंदकिशोर आचार्य**

भाषांतर

29 घर (ओड़िया कहानी) : **जगन्नाथप्रसाद दास**

कहानी

35 अधमूंडिया राक्षस : **योगेश्वर शर्मा**

कविता

42 चार कविताएँ : **शंभु गुप्त**
44 दो कविताएँ : **ईना कंवर**

समीक्षा

47 अपनी ज़मीन पर तामीर : **मृदुला गर्ग**
50 हिमाचल का हिंदी उपन्यास (दूसरी किश्त) : **डॉ० हेमराज कौशिक**
67 बातों से न हल होगी : **प्रेम पखरोलवी**

इतिहास संस्कृति

70 पहाड़ी रियासतों का प्रादुर्भाव : **मियां गोवर्धन सिंह**

आयोजन

85 समाज का इतिहास : **ईशान शर्मा**
87 स्व० लोतराम भल्ला की कला प्रदर्शनी : **विद्या शर्मा**

पुरातत्व

89 चम्बा का रंगमहल : **हरिश्चन्द्र शर्मा**
91 कांगड़ा कला संग्रहालय : **रमेशचन्द्र**
94 किन्नौर के मंदिर : **हिम कुमार चटर्जी**
96 आवरण के चित्र

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं।

पाठकीय

प्रेम पखरोलवी, नादौन, हि० प्र०

जनप्रिय 'विपाशा' के अंक 32 और अंक 33 मेरे सामने हैं। दोनों अंकों की साज-सज्जा एवं सामग्री को देखकर लगता है कि 'विपाशा' अब अपने पूर्ण यौवन पर आने को है। पत्रिका के पाठकीय का कलेवर भी, देख रहा हूं, ज्यादा फैलाव पाने लगा है जो पाठकों की रुचि-शुचि की व्यापकता का परिचायक है।

आवरण पृष्ठ, दोनों अंकों के, मनमोहक एवं कलात्मक लगते हैं। विषयवस्तु का चयन एवं संपादन आपके अनुभव एवं कार्यनिपुणता को उजागर करते हैं। अंक 32 में शामिल पीयूष सिंह दईया का लेख 'सृजन शिल्पी और उसका परिवेश' काफी रोचक एवं ज्ञानवर्धक है। लेखकीय व्यंजना में श्री दईया जी का यह कथन एक सूक्ति की हैसियत रखता है कि 'लेखक के अनुभव से तात्पर्य ऐंद्रिक संवेदन से नहीं है बल्कि अनुभव का तात्पर्य स्मृतियों के अतीत से लेकर यथार्थ की मानवीय चेतना का समय से संपृक्त होना है।"

'पाहुन' के तहत दी गई कहानी 'मिस पाल' (स्व० मोहन राकेश) कथ्य के आयामों को उजागर करती है। विशेषकर हिमाचली जन जीवन के प्रति उनके प्यार और दिलचस्पी की शिनाख़्त भी यह कहानी बखूबी कराती है।

दूसरी कहानियां—'मकान' (रामदरश मिश्र), सूरज के पंख (राजीव ई० सिंह) और 'लाल जोड़ा' (निर्मल छाया) पत्रिका के स्तर को ऊँचा उठाने वाली हैं।

'लोक संस्कृति' के अंतर्गत डॉ० गौतम व्यथित की 'कांगड़ा जनपद के लोक-नाट्य' लेखक के अनुभव एवं व्यापक अध्ययन का द्योतक है। डॉ० गौतम जी एक समय से कांगड़ा लोक कला और लोक मंच से जुड़े हैं। वहां के जनप्रिय लोक नृत्य 'झमाकड़ा' को राष्ट्र स्तर तक लाने में व्यथित जी का योगदान कैसे भुलाया जा सकता है? इस अंक में यह रचना देकर यह अंक संग्रहणीय हो गया है। एतदर्थ बधाई लें।

अंक 33 में अभी तक कमलापति 'मिश्र' जी का लेख 'हिन्दी के समर्पित साधक—श्री नारायण चतुर्वेदी' ही पढ़ पाया हूं। चतुर्वेदी अब हमारे मध्य में नहीं हैं, यह दुःखद है। निस्संदेह वे हिन्दी के मूर्धन्य साधकों और लब्ध प्रतिष्ठ लेखकों में से एक थे। मिश्र जी की रचना चतुर्वेदी जी के अंतरंग जीवन और साहित्य साधना का परिचय कराती है। उन्होंने अपने लेखनकाल के दौरान मां भारती की भरपूर सेवा की। वे इतने विनोदप्रिय व्यक्ति भी थे, यह इसी लेख को पढ़ने से जाना। उनकी एक दुर्लभ कविता को अंक में शामिल कर लेखक ने सचमुच पाठकों पर उपकार किया है। क्या विडंबना है कि हिन्दी के पुराने महारथी एक-एक करके हम से बिछुड़ रहे हैं। निराला गये, पंत गये, महादेवी वर्मा गईं और अब चतुर्वेदी जी भी न रहे।। यही कहा जा सकता है कि—

महवे हैरत हूं कि। यह दुनिया। क्या से क्या हो जायगी।

जयनारायण, नई दिल्ली

विपाशा के अंक 33 में श्री शमशेर बहादुर सिंह से बातचीत निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है। इसमें अनेक चर्चित मुद्दों पर बहुत स्पष्ट जवाब दिए गए हैं। 'यार्क्स ने तो निरन्तर परिवर्तन और संशोधन पर बल दिया था···। जिस ढंग से कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं, देशी नीति-निर्धारकों ने इसे लिया वह संभवतः सही नहीं रहा। एक रचनाकार कलाकार इस इज़्म को आगे किस प्रकार से ले इसकी कोई दिशा इन नेताओं के पास नहीं थी।'—यह कहकर शमशेर जी ने अनुभव परक और साफ बात की है और उन्होंने विचार में अपनी आस्था भी पूर्णतया व्यक्त की है। वास्तव में विचारधाराएं रूढ़ियों या परम्पराओं में जकड़ने से सड़ांध निश्चित रूप से पैदा होगी। यही यहां देखा भी गया है।

दूसरा सवाल 'भारत भवन' को लेकर रहा। भारत भवन ने अवश्य महत्त्वपूर्ण काम किए हैं और इस केन्द्र के माध्यम से समूचे देश में सांस्कृतिक हलचल भी बनी रही। कला की अनेक विधाओं का जो सामंजस्य इसके माध्यम से देखने को मिलता रहा वह सराहनीय है। यह भी सही है कि इस तरह की संस्थाओं के पीछे योग्य व्यक्तियों और विशेष रूप से आयोजन-संयोजन की सही दृष्टि और क्षमता रखने वाले व्यक्ति ही दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं। श्री अशोक वाजपेयी इसमें खरे भी उतरते हैं। लेकिन किसी भी संस्था पर एक ही व्यक्ति के लम्बी अवधि तक काबिज़ रहने से विवाद खड़े होते ही हैं। उस व्यक्ति विशेष के इर्द-गिर्द एक ऐसा समूह बन जाता है जो एक रूढ़ि की शक्ल बनाकर भला होते हुए भी बुरा प्रतीत होता है। संस्था के कार्यकलापों में जब व्यक्तियों और उनकी क्रियाओं का बार-बार दोहराव होता है तो ऐसी स्थिति में किसी भी संस्था में लोक-तांत्रिक परंपरा शेष नहीं रह जाती और सब कुछ वहीं का वहीं घूमता रहता है। भारत भवन की पत्रिका 'पूर्वग्रह' को ही लें, बार-बार वही नाम, वही लोग संगीत के किसी घराने की गायकी की तरह एक अलग भाषा का निर्माण चल रहा है, जैसे समूचे साहित्य जगत् को इसी का इंतज़ार है कि देखते हैं कब क्या बाहर निकलता है। सारे स्तर, सक्रियता और निरन्तर गतिविधियों के रहते भी यह रूढ़ि बराबर रूप लेती रही है। इस दृष्टि से परिवर्तन अप्रत्याशित नहीं है, लेकिन प्रश्न यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि क्या परिवर्तन के तहत पहले से अधिक अच्छा नहीं तो क्या उतनी ही सक्रियता और स्तर के साथ क्या इसे चलाए रखा जा सकता है। संभवतः इसके लिए फिर चलाने वाले, दायित्व का निर्वाह करने वाले व्यक्तियों का अभाव अखरेगा। इस अभाव की पूर्ति ही परीक्षा है।

इस साक्षात्कार में प्रगतिशील काव्यधारा और पुरस्कारों आदि को लेकर और भी प्रश्नोत्तर हुए हैं। कुल मिलाकर साहित्य जगत् के व्यावहारिक पत्र पर यह बातचीत अधिक सार्थक हुई है।

राजेश्वर तिवारी, नैनीताल, उ० प्र०

विपाशा के अंक 33 में श्री मौलूराम ठाकुर का लेख 'कुल्लू क्षत्र की लोक नाट्य परंपरा' महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि आपने संपादकीय में भी संकेत किया है। इस लेख में जन-जीवन के आचार-व्यवहार और समय के साथ लोक-कलाओं में जीवन के सत्यों का जुड़ जाना निःसंदेह इस लेख में सार्थकता के साथ व्यक्त हुआ है। यह लोकनाट्य का जीवन से जोड़कर विश्लेषण है जो लेखक के सीधे अनुभव का परिचायक भी है।

संपादकीय

कविता के समर्थन में बुलंद आवाज़

साहित्य के लिए वर्ष 1990 का नोबेल पुरस्कार सुविख्यात कवि ओक्तावियो पाज़ को प्रदान किया गया है। मेक्सिको में जन्मे कवि पाज़ की कविता देश-काल के सवालों, स्मृति और इतिहास के प्रसंगों के साथ ब्रह्मांडीय फलक पर तनी हुई है। इसी में प्रकृति और रोज़मर्रा जीवन के दृश्य भी शामिल हैं, और अतियथार्थवाद तथा सहज ऐंद्रिकता के तत्त्व भी विद्यमान हैं।

हिन्दी कवि श्री प्रयाग शुल्क के अनुसार ओक्तावियो पाज़ की कविताओं की संरचना जटिल है। टूटे-बिखरे वाक्यों और एक शब्द वाली पंक्तियों से जो चित्र और बिम्ब बनते हैं वे हमसे एक धीरज की मांग करते हैं। पाज़ की कविता बिम्बों के मामले में बहुत समृद्ध है लेकिन वह बिम्बवादी कवि नहीं हैं। कलाओं में पाज़ की गहरी दिलचस्पी है और उनकी कविता में मूर्तियों, स्मारकों, चित्र-कृतियों के भी हवाले आते हैं।

ओक्तावियो पाज़ की चुनी हुई कविताओं का एक संग्रह केन्द्रीय साहित्य अकादमी से प्रकाश्य है। इस संग्रह के लिए अनुवाद श्री प्रयाग शुक्ल कर रहे हैं और नोबेल पुरस्कार मिलने से पूर्व ही इस पर काम शुरू हो चुका था। इस प्रस्तावित संग्रह में जाने वाली रचनाओं में से चार कविताएँ इस अंक में हम साभार दे रहे हैं।

ओक्तावियो पाज़ की दिलचस्पी विभिन्न संस्कृतियों में रही है और भारत में तो वह साठ के दशक में मेक्सिको के राजदूत के रूप में कई वर्ष रह चुके हैं। इस दौरान उन्होंने भारत के विभिन्न सांस्कृतिक स्थलों और क्षेत्रों का भ्रमण भी किया और वह भारत का प्रभाव अपनी रचनाओं तथा जीवन में स्वीकार करते हैं। भारतीय विषयवस्तु पर उनकी कई कविताएँ भी हैं।

ओक्तावियो पाज़ की तीन कविताएँ 'हिमाचल प्रदेश' शीर्षक से मिलती हैं,

जिनमें से 'हिमाचल प्रदेश : तीन' शीर्षक कविता का अनुवाद विपाशा के शुरू के किसी अंक में प्रकाशित है और श्री विनोद शर्मा द्वारा अनूदित दो अन्य कविताएँ कवि पाज़ पर उनकी परिचयात्मक टिप्पणी के साथ इस अंक में जा रही हैं।

उनकी अगली कृति 'दूसरी आवाज़' कविता के समर्थन में आवाज़ बुलंद करेगी, इस आश्वस्ति के साथ विश्व कविता के फलक पर व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के कवि ओक्तावियो पाज़ को नोबेल पुरस्कार के लिए बहुत-बहुत बधाई !

इसी अंक में हिन्दी रंगमंच की परिस्थिति को लेकर डॉ० नंदकिशोर आचार्य का एक विश्लेषणात्मक लेख शामिल है और श्री मुकुटधर पांडेय से साक्षात्कार भी महत्त्वपूर्ण है।

हिमाचल के उपन्यास लेखन पर डॉ० हेमराज कौशिक के विस्तृत विवेचन की दूसरी किश्त भी प्रकाशित हो रही है और मियां गोवर्धन सिंह की 'हिमाचल : इतिहास और संस्कृति' शीर्षक लेख-शृंखला के अन्तर्गत 'पहाड़ी रियासतों के प्रादुर्भाव' पर केंद्रित सामग्री भी इसमें शामिल है। इसी क्रम के कुछ लेख पूर्व अंकों में पहले भी प्रकाशित हुए हैं।

tharahkardu.in

ओक्तावियो पाज़ की चार कविताएँ

□ अनुवाद : प्रयाग शुक्ल

गली

गली एक लंबी और सूनी।
चलता अंधेरे में, ठोकर खा, गिर जाता
उठता हूँ, चलता, टटोलता, मेरे पाँव
पड़ते चुप पत्थरों पर, पत्तों पर सूखे हुए।

रखता पाँव पीछे-पीछे कोई और भी
चलता पत्थरों पर :
अगर मैं रुकूँ तो रुक जाता वह भी
अगर मैं दौड़ूँ तो दौड़ता वह भी
मुड़कर मैं देखता : कोई नहीं

हर चीज़ अंधियारी, चौखट हीन
मुड़ते, फिर मुड़ते इन कोनों में
खुलते ही जाते जो आगे गली में
जहाँ नहीं इंतज़ार मेरा किसी को
कोई भी करता न पीछा जहाँ मेरा
जहाँ मैं करता हूँ पीछा उस आदमी का
खाता जो ठोकर, फिर उठता है, और मुझे
देख कहता है : कोई नहीं।

नीतिकथा

अग्नि और वायु के कल्प
यौवन जल का
हरे से पीले तक
पीले से लाल तक
स्वप्न से निहारने तक
इच्छा से कर्म तक
था केवल एक डग
पर थे तुम अगंभीर
कीड़े थे जीवित रत्न
ताल के किनारे थी लेटी हुई ऊष्मा
वर्षा थी वृक्ष एक बिना गुंथे केशों की
तुम्हारी हथेली पर उगा एक पेड़
हँसा गाया बोला भविष्य कथन
ये छोटे-छोटे कुछ चमत्कार चिड़ियों से
सब कुछ था सबके लिए
सब थे सब कुछ
था केवल एक शब्द बहुत बड़ा
पृष्ठहीन
शब्द था सूर्य-सा

एक दिन टूटा वह
नन्हें से टुकड़ों में
थे वे शब्द भाषा के, बोलते जिसे अब हम
टुकड़े जो अब न कभी जुड़ेंगे
आईने टूटे हुए, चेहरा संसार का
जिनमें है कटा-पिटा।

आप्तवचन

शीतल होंठ रात के
शब्द एक बोलते

पीड़ा का स्तम्भ
शब्द नहीं पत्थर
पत्थर नहीं छाया भर
वाष्प-से विचार
पर मेरे कोहरेदार होंठों पर
सचमुच का जल

सच का एक शब्द
मेरी सब भूलों के पीछे का तर्क
यदि है यह मृत्यु तो
इसी से मैं जीवित
यदि यह एकांत है
तो फिर यह वाणी
है अर्पित इसी को

स्मृति है यह और मुझे
कुछ न स्मरण
ज्ञात नहीं मुझे यह कहती क्या
लेकिन मैं इसी के भरोसे हूँ
कैसे हम करें ज्ञात जीवित हैं
कैसे भूले कोई
भिज्ञता अपनी

अधमुंदी पलकों से समय हमें देखता
और बस उसमें हम
इतना भर पाते हैं झाँक ।

विहंगम दृष्टि

(गिल्लेर्मो सुक्रे के लिए)

झपटती है
उन्मत्त
गोल गोल

एक प्रतिबिंब की
सीध में
गिरती है
निर्दिष्ट

झक सफेद
उठती है
चंचु अब रक्तिम
छितराती नमक-सी
रेखा नहीं कोई

गिरती जब
सीधी यह
झाँकना तुम्हारा
इस पृष्ठ पर
लुप्त प्राय

सहभागिता की प्यास : ओक्तावियो पाज़

□ विनोद शर्मा

सन् 1990 का नोवेल पुरस्कार, मेक्सिको के प्रख्यात कवि और निबंधकार ओक्तावियो पाज़ को प्रदान किया गया। 76 वर्षीय पाज़ को पुरस्कार देने की घोषणा में स्वीडिश अकादेमी ने कहा—यह पुरस्कार पाज़ को, उनके विस्तृत क्षितिज वाले, मानवीय ईमानदारी और संवेदनशील बौद्धिकता से पूर्ण आवेगमय लेखन के लिए प्रदान किया गया है। पाज़ के रूप में वह स्पेनी भाषा के एक ऐसे लेखक को सम्मानित कर रही है जिसके पास एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। पाज़ की कविता और उनके निबंध, कोलंबियाई इंडियन, स्पेनी विजेताओं की तथा पश्चिमी आधुनिकतावाद की, संस्कृतियों के फलदायी संगम से जन्म लेते हैं।

घोषणा के दौरान वे, मेट्रोपॉलिटन कला-म्यूज़ियम में चलने वाली, मेक्सिको की कला-प्रदर्शनी के सिलसिले में न्यूयॉर्क आये हुए थे। वे मैनहटन होटल में चैन से सोए हुए थे कि टेलीफोन पर खबर मिली। बाद में पत्रकारों से बात करते हुए उन्होंने कहा—"मैं चकित हूं। पुरस्कार के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता। इससे अमरत्व का द्वार तो नहीं खुलता किंतु इसके कारण आप पाठकों की एक बड़ी दुनिया तक पहुंच सकते हैं।" स्पेनी दुनिया के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान : 'सर्वेन्तीज पुरस्कार' से 1981 में तथा प्रतिष्ठित अमरीकी पुरस्कार : न्यूस्तात पुरस्कार' से 1982 में उन्हें पहले ही सम्मानित किया जा चुका है। कविता को अपने अस्तित्व की अनिवार्य शर्त मानने वाले पाज़ ने पत्रकारों को बताया—"कविता अब लोकप्रिय कला नहीं रही किंतु यह मानवीय अस्तित्व के लिए अत्यधिक ज़रूरी चीज़ है। कविता एक देश, एक भाषा की स्मृति है। कविता की अनुपस्थिति में लोग ठीक ढंग से बात भी नहीं कर सकते। मैं जीवन पर्यंत सक्रिय रहना चाहता हूं। हम अकेले जन्म लेते हैं और हमारा पहला काम होता है अन्य लोगों में शामिल होना। कम्यूनियन (सहभागिता) की इस प्यास को मुझे दूसरों तक पहुंचाना है। भाषा, सार्वजनिक संपत्ति है। लेखक भाषा का संरक्षक मात्र है। मेरा काम था—अच्छा लिखना। जितना अच्छा मैं लिख सकता था मैंने लिखा।" दुनिया भर से आए पत्रकारों के सवालों के जवाब, फ्रांसीसी, स्पेनी और अंग्रेजी भाषाओं में देते हुए पाज़ ने बीसवीं सदी पर टिप्पणी करते हुए कहा—"वर्तमान शताब्दी बड़ी क्रूर है। दो महायुद्धों, कान्सन्ट्रेशन कैंपों और अणुबम से हमने इस शताब्दी में साक्षात्कार किया है। अतः कवियों को समाज की आलोचना करनी चाहिए। यह भयावह शताब्दी है। अनेक कवियों की मृत्यु नज़रबंदी-शिविरों में हुई। आज सारी दुनिया में आज़ादी लौट आई है और यह महत्त्वपूर्ण है। कला और दुनिया में आए बड़े परिवर्तनों

से मुझे बड़ी खुशी हुई है।" उन्होंने पत्रकारों को यह भी बताया कि उनकी अगली कृति : 'दूसरी आवाज़', कविता के समर्थन में आवाज़ बुलंद करेगी।

ओक्तावियो पाज़ का जन्म मेक्सिको में, 31 मार्च को सन् 1914 में हुआ था। 17 वर्ष की उम्र में उनके साहित्यिक जीवन की शुरुआत हुई। मेक्सिको की नैशनल यूनिवर्सिटी में अध्ययन करने के पश्चात् मेक्सिको के राजनयिक के रूप में वे विदेश चले गए। 1962 से 1968 तक वे भारत में मेक्सिको के राजदूत के पद पर आसीन रहे। 1968 में मेक्सिको में ओलंपिक खेलों पर किए जा रहे खर्चे के विरोध में वहां के छात्रों ने प्रदर्शन किए। सरकारी आदेश पर पुलिस ने हिंसात्मक कार्रवाही की इस सरकारी बर्बरता के विरोध में राजदूत के पद से इस्तीफा देकर पाज़ ने अपनी प्रतिबद्धता और सरोकारों को रेखांकित किया। लेखन के बाद बचे समय का उपयोग, वे एक साहित्यिक पत्रिका : 'वुएल्ता' को संपादित और प्रकाशित करने में करते हैं। जब वे भारत में थे, भारतवासियों की सादगी, स्पष्टवादिता और सरलता के कारण वे भारत से बेहद प्रभावित हुए थे; यद्यपि उन्हें तब तक, अनेक देशों और संस्कृतियों से साक्षात्कार के अनेक अवसर मिल चुके थे। भारत से पाज़ का गहरा रिश्ता है। सन् 1955 में जब वे पहली बार भारत आए थे तो एलिफेंटा की गुफाओं की मूर्तियों को देखकर विस्मित रह गए थे। भारतीय कला व संस्कृति से उनका यह पहला परिचय था। बाद में जब वे यहां राजदूत बनकर आए तो यह परिचय अंतरंगता में बदल गया। वे स्वयं स्वीकारते हैं कि भारत का प्रभाव उनकी कविता, उनके गद्य और जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है। भारत छोड़ते समय उन्होंने एक कविता लिखी—

शिव और पार्वती !
हम तुम्हें पूजते हैं
भगवानों के रूप में नहीं
किंतु मनुष्य के देवत्त्व की
मूर्तियों के रूप में...

1984 में दिल्ली में, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में एक घंटे तक उन्होंने अपनी कविताएं पढ़ी थीं जिन्हें अनेक भारतीय लेखकों, कवियों और सहृदय श्रोताओं ने मुग्ध होकर सुना था। 1985 में वे फिर भारत आए। तब उन्होंने विधिवत्, जवाहरलाल नेहरू स्मारक व्याख्यान दिया था और भारतीय ज्ञानपीठ का सन् चौरासी का पुरस्कार तकषी शंकर पिल्ले को अर्पित किया था।

अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में विश्वास रखने वाले ओक्तावियो पाज़ की विशिष्ट अतियथार्थवादी कविता, आलोचकों व पाठकों द्वारा दुनिया के अनेक देशों में समादृत हुई है। कविता के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य, कला, नृविज्ञान व संस्कृति की समीक्षाएं भी लिखी हैं उनके राजनीतिक और दार्शनिक निबंधों ने भी उनकी प्रतिष्ठा में बहुमूल्य योगदान दिया है। 1989 में प्रकाशित उनकी दोनों कृतियां—(i) 'हुआन सोरियान्तो का चित्र' तथा (ii) 'पाज़ का श्रेष्ठतम कृतित्व'—खासी चर्चित हुईं। 1958 में प्रकाशित 'सूर्यकांत' तथा 1962 में प्रकाशित 'अकेलेपन की भूलभुलय्या' उनकी विश्व प्रसिद्ध कृतियां हैं। 'अकेलेपन की भूलभुलय्या' संभवतः उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें उन्होंने आधुनिक मेक्सिको और 'मेक्सिकन व्यक्तित्व' की चौंकाने वाली व्याख्या की है, जिसे लेकर खासा विवाद भी चला। मेक्सिकोवासियों को इसमें उन सहज

'नाशवादियों' के रूप में चित्रित किया गया है जो एकाकीपन और उत्सवों और अनुष्ठानों की औपचारिकता के मुखौटों के पीछे छुपे रहते हैं।

तात्त्विक गूढ़ता से युक्त उनकी कविता के सरोकार उन विरोधाभासों से जुड़ते हैं जो अमरत्व और काल से बंधकर जीने के बीच पसरे हुए हैं। उनकी कविताओं के प्रेरणा स्रोत, मेक्सिको के जीवंत सांस्कृतिक अतीत में ढूंढ़े जा सकते हैं। 'सूर्यकांत' और 'देश के प्रवेश द्वार' आदि उनकी कुछ प्रसिद्ध कविताओं के केंद्र में, मृत्यु की तुलना में जीवन की श्रेष्ठता तथा एकांत में भी मनुष्य की प्रकृति से एकात्मता की उपस्थिति महसूस की जा सकती है। वे स्वयं को 'डिसइलूजंड वामपंथी' कहते हैं। रूस और क्यूबा में राजनीतिक व सांस्कृतिक बंदिशों को देखकर साम्यवाद से उनका मोहभंग हुआ था। अपने देश के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और 'सेलेबल' लेखकों में से एक, पाज का कहना है कि समाजवाद का, डिक्टेटरशिप का रूप मर चुका है और साम्यवाद को जबरन लादने का ज़माना भी लद चुका; किंतु सामाजिक न्याय के पक्षधर समाजवाद और साम्यवाद सदा प्रासंगिक रहेंगे।

[195-डी, एम० आई० जी०, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027]

ओक्तावियो पाज़ की कुछ और कविताएँ

हिमाचल प्रदेश : एक

मैंने देखा
प्राचीरों के आधारों पर
क्षितिजों का छितराव
[घोड़े की खोपड़ी में छत्ता
तल्लीन मधुमक्खियों का]

मैंने देखा
सिर का घूमना पथराया हुआ
श्वासावरोध से झूलता बगीचा
[खुश्बू की नोक पर
निस्पंद शेर-तितली]

मैंने देखा
बुद्धिमानों के पहाड़ों को
जहाँ ध्वस्त करती है गरुड़ों को हवा
[एक नन्हीं लड़की और एक बूढ़ी औरत
दोनों हड़ीली ढोती हुई बोझा
भारी इन पहाड़ों से]

हिमाचल प्रदेश : दो

हमारी है (लुटे पेट वाली)
सबसे पुरानी
(चिकनी) सभ्यता
(बकरियों की छोटी राह में)
एक लपट था इसका केसरिया लबादा)
दुनिया में !
(गतिमान)
यह धरती
(और चीड़ के सूखे काँटों पर आगे बढ़ने की
इसकी पादुकाओं की ज़ोरदार कोशिश)
पवित्र है :
धरती (मानो चलना पड़ा हो इसे)
वेदों की।

(राख पर) मनुष्य
(अपनी तर्जनी से इशारा करते हुए)
शुरू कर चुका था सोचना (स्पष्टतः)
पाँच हज़ार वर्ष पूर्व
(पंडित ने मुझे दिखाया)
यहाँ·····

(हिमालय
—तृतीय महाकल्प का अंत
दुनिया का तरुणतम पर्वत)

अनुवाद : विनोद शर्मा

दूसरा कोई

उसने गढ़ लिया अपने लिए चेहरा
उसके पीछे,
वह जिया, मरा और फिर जिन्दा हुआ,
बार-बार
उसके चेहरे पर आज
झुर्रियाँ हैं उस एक चेहरे की
उसकी झुर्रियों का कोई चेहरा नहीं

ईसाई धर्म के परिणाम

युवा हुसन ने
एक क्रिश्चियन से शादी करने के लिये
कर लिया ईसाई धर्म ग्रहण
जैसे कि वह हो एक वाइकिंग,

पादरी ने
उसे एरिक नाम दिया
अब
उसके नाम दो हैं
और पत्नी सिर्फ एक

अनुवाद : केशव

साक्षात्कार

राष्ट्र प्रेम ही सामाजिक दायित्व रहा

□ मुकुटधर पांडेय से महावीर अग्रवाल की बातचीत

प्रश्न : कविता लिखना आपने कब से शुरू किया ? यदि स्मरण हो तो यह भी बताइए कि आपका प्रथम कविता किस पत्रिका में और कब छपी था ?

उत्तर : कविता सर्वप्रथम मैंने 1907 में पूज्म पिताजी की मृत्यु पर लिखी थी। परन्तु किसी को भी दिखाई नहीं और फाड़कर फेंक दी। मेरी पहली कविता 'प्रार्थना पंचक' 1909 में आगरा से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'स्वदेश बांधव' में छपी थी। 'कुररी के प्रति' 1920 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इसे छायावाद की पहली कविता कहा।

प्रश्न : आप कविता क्यों लिखतें हैं ?

उत्तर : हमारे घर का वातावरण धार्मिक और सात्विक रहा। घर के पुस्तकालय में संस्कृत साहित्य और कबीर साहित्य भी था। भाई साहब पंडित लोचन प्रसाद पांडेय की कविताएं तब पत्र-पत्रिकाओं में लगातार छप रही थीं। उन्हें देखकर कविता लिखने का विचार आया। कविता मन की शांति के लिए लिखता हूं। मैं मानता हूं कि कविता हमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भावना के अधिक पास ले जाती है। मेरी कविता की कुछ पंक्तियां हैं, उससे आप समझ सकते हैं—

कविता अन्तर उर का वचन प्रवाह है,
कविता कारा बद्ध हृदय की आह है।
कविता भग्न मनोरथ का उद्गार है,
कविता सुन्दर एक अन्य संसार है।

प्रश्न : आप अपनी रचना-प्रक्रिया के विषय में कुछ बताइए।

उत्तर : 1905 में कांग्रेस अधिवेशन में मेरे पिताजी कलकत्ता गये थे। उस अधिवेशन की अध्यक्षता दादाभाई नौरोजी ने की थी। राष्ट्र भक्ति के लिए प्रेरित करने वाली अपील (अंग्रेजी, बंगला और हिन्दी में) वे साथ लाए। घर में गीता और रामचरितमानस का परायण नियमित होता था। हमारे यहां कई प्रतिबंधित पुस्तकें भी थीं। भाई साहब लोचन प्रसाद पांडेय का संबंध क्रांतिकारी सत्यदेव परिव्राजक से था। राष्ट्र भक्ति का वातावरण था। आज भी मुझे नवीन चंद्रसेन की कविता 'देवाराधने भारतीद्वार, होवे ना, होवे ना, खोलो तलवार' रोमांचित कर देती है। मेरी रचना प्रक्रिया पर इन सबका प्रभाव पड़ा। 1913 में रवीन्द्रनाथ टैगोर को जब 'नोबेल प्राइज' मिला, तब बहुतों ने उनका अनुकरण किया। आध्यात्मिक विषय में एक

व्यंजना प्रधान नवीनता थी। 1920 में मैंने इसी धारा को 'छायावाद' नाम दिया। 'छायावाद' के आंतरिक और गूढ़ भावों के प्रकाशन की एक नवीन और विलक्षण रीति के समान ही मेरी रचना-प्रक्रिया भी हुई है। कविताएं दो प्रकार की होती हैं। एक तो स्वयं सिद्ध और दूसरी अकल्पित सद्यः प्रसूत। इस संदर्भ में मेरी एक कविता है जो 'सरस्वती' के मुख्य पृष्ठ पर छपी थी 'रूप का जादू'। इसमें ईश्वर की ओर संकेत है।

प्रश्न : वस्तु और शिल्प में आप किसे प्रमुखता देते हैं और क्यों ?

उत्तर : कविता के लिए दोनों आवश्यक हैं, वस्तु से जीवन-दर्शन का बोध होता है। शिल्प द्वारा काव्य-दर्शन का, कवि की तैयारी का ज्ञान हम करते हैं। 'गीतांजलि' में रवीन्द्र के आध्यात्मिक सौंदर्य बोध की चरम परिणति पाई जाती है।

प्रश्न : कविता में बिम्ब, प्रतीक और मिथकों का उपयोग किस तरह हो ?

उत्तर : जो कविता के भाव को सुन्दर रूप दे सकें। जिन्हें सहज ही समझा जा सके। एक पंक्ति देखिए—'खोज मैं वृथा हुआ हैरान, यहां ही था तू हे भगवान।'

प्रश्न : कविता की भाषा को लेकर अक्सर प्रश्न खड़ा किया जाता है। आप बताइए कि कविता की भाषा कैसी होनी चाहिए ?

उत्तर : भाषा सहज और बोधगम्य होनी चासिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो कविता कालजयी नहीं हो सकती।

प्रश्न : पाठक वर्ग की आस शिकायत है कि कविताएं दि-ब-दिन दुरुह होती जा रही हैं, इसलिए लोग कविताओं से जुड़ नहीं पा रहे हैं, इस पर आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर : देखो, कवियों को बहुत अधिक क्लिष्टता और अस्पष्टता से बचना चाहिए। परन्तु पाठकों को भी अपनी योग्यता बढ़ानी होगी। उन्हें रुचि सम्पन्नता की ओर चलना पड़ेगा। क्योंकि कवि यदि पाठक की रुचि और स्तर के अनुसार कविता लिखेगा तो उसकी कविता व्यक्तित्व विहीन होकर पाठक का अनुकरण करेगी। ऐसा होना ठीक नहीं। पाठक अधिक अध्ययन करें। अपनी समझ को विकसित करे।

प्रश्न : लेखन एक सामाजिक दायित्व है। अतः आप बताइए कि लेखक का क्या कुछ भी निजी नहीं रह जाता ?

उत्तर : हमारे ज़माने में तो (आज़ादी से पहले) राष्ट्र प्रेम ही, आज़ादी का प्रश्न ही बहुत बड़ा सामाजिक दायित्व रहा। तब हमने गांधी प्रार्थना, किसान, तुलसी, साहस, आंख जैसी अनेक कविताएं लिखी थीं। 1928 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में 'किसान' कविता का पाठ भी किया था। लेखक में मौलिकता का अभाव उसके व्यक्तित्व में बाधक होता है। मैं तो एक साधारण-साधक हूं। चरमसत्ता की अनुभूति का वर्णन नहीं कर सकता। वह अनिर्वचनीय है। अनुभूतियां से भौतिक प्रेम और आध्यात्मिक प्रेम होता है। मैंने भौतिक प्रेम से प्रारंभ किया और कब अध्यात्म की ओर मुड़ गया पता नहीं।

प्रश्न : कवि के अन्दर, व्यक्ति और समाज के हितों के बीच का द्वंद्व क्या किसी सार्थक लेखन की भूमिका बनाता है ?

उत्तर : निश्चित रूप से बनाता है। 'घर' की कुछ पंक्तियां देखिए—

देखा मैंने यहीं मुक्ति थी,
यहीं भोग था, यहीं मुक्ति थी,

घर में ही सब योग युक्ति थी
घर ही था निर्वाण।

प्रश्न : लेखन के कारण आपको व्यक्तिगत जीवन में कभी किसी संघर्ष का सामना करना पड़ा ?

उत्तर : नहीं। साहित्य देवता के चरणों में कुछ पुष्प चढ़ाये थे, उनके आशीर्वाद से सम्मान ही मिलता रहता है।

प्रश्न : क्या रचनाकार के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना ज़रूरी मानते हैं ? यदि हां तो क्यों ? यदि नहीं तो क्यों ?

उत्तर : यदि प्रतिबद्धता का अर्थ मार्क्सवाद से है, तो नहीं। मार्क्सवादी साहित्य को 'आइना और हथौड़ा' मानते हैं। मैं नहीं मानता। स्थूल दृष्टि होने के कारण वे इस बात को भूल जाते हैं कि मनुष्य की एक मानसिक क्षुधा भी होती है जिसे नारेबाजी द्वारा तृप्त नहीं किया जा सकता। प्रतिबद्धता ज़रूर हो। आध्यात्मिक चेतना की राह पर चलकर सत्य की खोज करना ही कवि का धर्म है।

प्रश्न : वर्तमान में क्या लेखन के द्वारा सामाजिक बदलाव संभव है ?

उत्तर : संभव हो सकता है, परन्तु भारतीय संस्कृति की राह पर चलकर। अपने राष्ट्रीय स्वरूप और जनता के मनोविज्ञान को बदलना होगा। प्रेम, त्याग, सद्भाव की भावना के आधार पर सत्यं शिवं सुन्दरम् की धारणा विकसित करनी होगी। साहित्य के निर्माण का लक्ष्य ध्वंसात्मक के बदले रचनात्मक और उदार होना चाहिए। दुख की बात यह है कि साहित्य सृजन अब सेवा नहीं व्यवसाय बन गया है। पहले तो साहित्यकार इसे कमाई का ज़रिया न बनाकर पूजा की भावना से करता था।

प्रश्न : आप किस कवि से अधिक प्रभावित हैं, या रहे हैं। उनकी कुछ उल्लेखनीय रचनाएं, जिनसे आपके लेखन को गति या दिशा मिली।

उत्तर : बचपन से ही पढ़ने की रुचि रही। कबीर, मीरा, तुलसी का अध्ययन किया। फिर अस्वस्थता के कारण इलाहाबाद क्रिश्चियन कालेज से वापस आ गया। घर पर ही संस्कृत बंगला और अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा मिली परन्तु किसी एक का प्रभाव नहीं है।

प्रश्न : कविता भी एक यात्रा है। आप अपने समकालीनों में किन कवियों को अपना सहयात्री पाते हैं ? अपनी पसंद की कुछ कविताओं और उनके कवियों के बारे में बताइए।

उत्तर : 'गीतांजलि' के गीतों में नवीनता और आकर्षण रहा है। 1917 में मैथिलीशरण गुप्त ने 'सरस्वती' में अपने एक लेख में इन्हें गूढ़ कहा था। तब इन कविताओं का नामकरण हिन्दी और बंगला में नहीं हुआ था। इन कविताओं के भाव धुंधले थे। 1920 में तब 'हिन्दी में छायावाद' लेखमाला 'श्री शारदा' के अंकों में छपी थी। तब छायावादी कवियों में प्रसाद जी अग्रणी थे। उसके बाद निराला हुए। उनकी एक पंक्ति याद आ रही है—'एक दिन थम जायेगा रोदन/तुम्हारे पुण्य अंचल में।' फिर महादेवी की बहुत-सी कविताएं हैं।

प्रश्न : कविता के विकास और सार्थक फैलाव में रेडियो, दूरदर्शन और कवि सम्मेलनों पर आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर : अस्वस्थ होने के कारण बहुत कम निकल पाता हूं। रेडियो में तो कुछ होता रहा है। परन्तु कवि सम्मेलन और दूरदर्शन पर कुछ कहने में मैं असमर्थ हूं।

प्रश्न : कविता पोस्टर्स को आप किस रूप में देखते हैं ? क्या कविता को लोकप्रिय बनाने और चेतना के विकास में इनकी कोई सार्थक भूमिका बन सकती है ?

उत्तर : शायद। कुछ बन सके।

प्रश्न : कविता के अलावा आप और किस विधा में लिखते हैं ? क्या अन्य विधा में लेखन करने का भी कोई कारण हैं ?

उत्तर : निबंध, कहानियां और संस्मरण भी लिखे हैं। बंगला, उड़िया और संस्कृत से थोड़ा बहुत अनुवाद भी किया है। 'श्री शारदा' में 1920 में छपा छायावाद का पहला समीक्षात्मक निबंध स्वीकार किया गया। 'मेघदूत' का अनुवाद भी छत्तीसगढ़ी में किया है।

प्रश्न : और अंत में, कविता की आलोचना और उसके आलोचकों के विषय में आपकी क्या राय है ?

उत्तर : हिन्दी में हुई छायावादी कविता को सुप्रसिद्ध आलोचक शान्तिप्रिय द्विवेदी ने हिन्दी कविता के सन्तप्त वातावरण में मलयानिल की एक शीतल सुगंधित सांस कहा था। कुछ आलोचक छायावादी प्रवृत्ति को रोमानी कहते हैं। पर छायावाद के रोमांस की भूमिका भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। छायावादी कविता का केन्द्रीय उपकरण है, उसका आध्यात्मिक सौंदर्य बोध।

द्विवेदी जी ने भी सुकवि किंकर के छद्म नाम से 'सरस्वती' में छायावाद की कटु आलोचना की थी। तब मैंने, 'छायावाद काव्य कला का अपूर्व निदर्शन है, आध्यात्मिकता एवं धर्म-भावुकता छायावाद का अभिन्न अंग है' कहकर छायावाद काव्य की वकालत की थी। आलोचना के लिए पुराने नियम हिमालय की तरह अडिग नहीं रह सकते। इन नियमों में सुधार भी करना पड़ता है। कभी-कभी नए नियम भी बनाने पड़ते हैं। हिन्दी साहित्य की अत्याधुनिक प्रवृत्ति और स्थिति से तुम लोग अधिक परिचित हो। मेरी अपनी सीमाएं हैं।

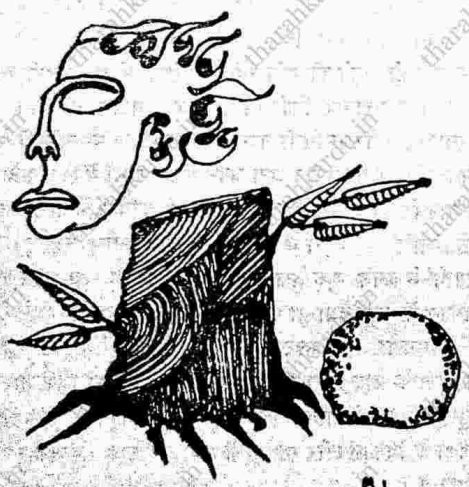

राजेंद्र
प्रयागवाड़ '91

हिन्दी रंगमंच : परिस्थिति और दायित्व

□ नंदकिशोर आचार्य

हिन्दी रंगमंच को लेकर जब भी कोई 'विचार-विमर्श' होता है तो कुछ उल्लेखनीय प्रदर्शनों के महत्व को स्वीकार करने के बावजूद इस बात पर एक सामान्य स्वीकृति-सी होती है कि हिन्दी रंगमंच की अपनी कोई विशिष्ट पहचान नहीं है। लेकिन यदि थोड़ा गहराई में जाकर विचार करें तो हम पायेंगे कि उपर्युक्त तथ्य मूल रोग नहीं बल्कि उसका लक्षण है। साहित्य और कलाएं किसी भी समाज या जाति के अति-साक्षात्कार की संवेदनात्मक प्रक्रियाएं हैं। अपनी विशिष्ट पहचान को रचने में जो जाति जितनी अधिक सक्रिय होती है, उसका साहित्य और कलाएं उतनी ही अधिक समृद्ध और व्यक्तित्व सम्पन्न होती जाती हैं। यह बात साहित्य से भी अधिक रंगमंच जैसी उन कलाओं पर लागू होती है जो अपनी प्रक्रिया में ही सामाजिक या सामुदायिक चरित्र की होती हैं। एक कवि या गायक के लिए अकेले ही स्वान्तः सुखाय रचना करना सम्भव हो भी सकता है, लेकिन रंगकर्मी के लिए न तो अकेले कुछ करना सम्भव होता है, और यदि वह कुछ साथी जुटा भी ले तो भी प्रेक्षक-समुदाय के बिना उसकी रचना की कोई अर्थवत्ता नहीं है। वह लेखकों या चित्रकारों की तरह निरवधि काल और विपुल पृथ्वी में किसी समानधर्म के होने की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसे तत्काल एक दर्शक या गृहीता समुदाय की जरूरत पेश आती है और वह भी ऐसा समुदाय जो अरसिक न हो। अरसिक कौन है? वह जो साहित्य और कलाओं को अपने और अपने समय से साक्षात्कार का माध्यम समझने की बजाय उन्हें समय काटने, मनबहलाव करने या उनकी संरक्षकता का दावा कर अपनी एक सांस्कृतिक हैसियत बनाने के माध्यम की तरह बरतना चाहता है।

अपनी सांस्कृतिक पहचान को खोना ही अरसिक होना है। दुर्भाग्य से हिन्दी भाषी समाज अधिकांशतः अरसिक समाज होता गया है। केवल रंगमंच का ही सवाल नहीं है। अन्य कलाओं और साहित्य के साथ भी उसका रिश्ता लगभग वैसा ही है जैसा नाटक के साथ। हिन्दी में पुस्तकों की बिक्री के आंकड़ों से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि दो-चार जगहों पर एक नाटक के प्रदर्शन होने पर जितने लोग उसे देख चुकते होंगे, उतने लोग पूरे हिन्दी भाषी प्रदेश में किसी एक पुस्तक के पाठक नहीं होते होंगे—दो-चार अपवादों और स्वयं साहित्यकार पाठकों को छोड़ दें तो।

लेकिन मेरा प्रयोजन रंगमंच और साहित्य के गृहीता समाज की तुलना करना नहीं है। जिस बात की ओर मैं संकेत करना चाह रहा हूं वह यह है कि हिन्दी रंगमंच का यदि अपना

कोई विशिष्ट व्यक्तित्व और चरित्र नहीं है तो उसका मूल कारण यह है कि हिन्दी समाज अपने आत्मान्वेषण और आत्म-साक्षात्कार से बचने की प्रवृत्ति वाला समाज हो गया है और इसलिए उन बौद्धिक या संवेदनात्मक प्रक्रियाओं में उसकी रूचि कम होती गई है जो उसे अपने में झांकने को विवश करती हो। अपनी कलाओं, साहित्य और रचनाकारों के साथ उसका कोई गहरा, अन्तरंग और सृजनात्मक रिश्ता नहीं बचा है। इसीलिए कलाएं और साहित्य अधिकांशतः किसी न किसी तरह से या तो राज्याश्रय पर टिके हैं या पूंजीवादी संस्थानों पर। यदि आज बड़ी सरकारी खरीदें बंद हो जाएं तो कल साहित्यिक पुस्तकों के आज छपने वाले छोटे-छोटे संस्करण भी बंद हो सकते हैं। यदि आज सरकारी धन या उद्योगपतियों और विदेशी पैसे पर आधारित नाट्य-वृत्तियां आदि बंद हो जायें तो हम नहीं जानते कि आज का विफल रंगमंच कल किस हालत में पहुंच जायेगा।—बल्कि सच तो यह है कि ऐसा होने पर भी साहित्य कर्म या रंगकर्म से सक्रिय रूप से जुड़े रचनाकारों के अलावा समाज में व्यापक तौर पर उसे लेकर कोई चिन्ता शायद ही दिखाई दे। कहा जा सकता है कि जिस समाज में अधिकांश जन दो जून रोटी के संघर्ष में खपे जा रहे हों, वहां कला और साहित्य और आत्म-साक्षात्कार आदि बातें सब वाग्विलास हैं। इसके उत्तर में हंगारी कवि लॉयोल तामाशी की ये पंक्तियां यदि न भी पढ़ी जायें—

रोटी नहीं, रोटी से अधिक आज जरूरत है
शब्द की।
दहक उठो, ए उम्मीद, सुलगा दो हमारी आत्मा को
इसी की तलाश थी तुम्हें उन गलियों में, रास्तों में
उन तमाम बंदरगाहों में
संगी, तुम्हारे ही दिल पर वह छाप है अमिट।

—तो भी रोटी की लड़ाई प्रकारान्तर से उन रिश्तों को बचाने और उन्हें पुष्ट करने की भी लड़ाई है जो हमें वास्तविक अर्थों में एक मानव-समाज बनाते हैं और इन मानवीय रिश्तों की खोज ही कलाओं का भी मुख्य सरोकार है।

एक ऐसे परिवेश में जहां रंगकर्म में समाज की गहरी रुचि न बची हो, दूरदर्शन फिल्मों और अपना उत्सव जैसे कार्यक्रमों ने स्थिति को और भी विकट बना दिया है। टी० वी० और फिल्म का आकर्षण इतना अधिक मोहक है कि बड़े और नामी-गिरामी रंगकर्मी अब अधिकांशतः इन्हीं में व्यस्त है और छोटे-छोटे शहरों-कस्बों में रंगकर्म करने वालों के मन में भी किसी न किसी तरह छोटे पर्दे पर आने के सपने पल रहे हैं। दूरदर्शन या फिल्म के माध्यम की अपनी ताकत और सम्भावनाएं हैं और उनके कलात्मक प्रयोग में कुछ भी बुराई नहीं है। लेकिन टी० वी० और फिल्म की चकाचौंध का असर रंगकर्म पर भी पड़ता दिखाई देता है। एक ओर जहाँ रंगकर्मी मंच की बजाय स्क्रीन को अपना लक्ष्य बना लेता है, वहीं दूसरी ओर इलेक्ट्रानिक मीडिया के भव्य सैटों और बेशभूषा, रंगों और चकाचौंध का असर उनके रंगकर्म पर भी पड़ने लगता है और धीरे-धीरे रंगकर्म अधिक महंगा होता जाता है। रंगकर्म के अल्पसंख्यक गृहीता समाज पर भी टी० वी० का प्रभाव पड़ा है और अब कम से कम छोटे शहरों और कस्बों में यह ध्यान रखा जाने लगा है कि नाटक का प्रदर्शन ऐसे दिन और ऐसे समय किया जाये जब टी० वी० पर कोई रोचक कार्यक्रम न आ रहा हो। दूसरे शब्दों में, इलैक्ट्रानिक मीडिया

का एक प्रभाव यह भी है कि वह रंगमंच के प्रति समाज में पहले से व्यापक उदासीनता को एक ओर बढ़ाता है तो दूसरी ओर समाज की संवेदना और ग्रहणप्रक्रिया को अपनी भव्यता और आक्रामक सम्प्रेषणीयता से विकृत करता है। कुछ बहुत अच्छे और कलात्मक आयोजन भी हो सकते हैं—लेकिन व्यापक तौर पर भव्य और आक्रामक सम्प्रेषणीयता की आदी होती हमारी ग्रहण-प्रक्रिया धीमे और अंतरंग स्वरों की अभ्यस्त नहीं रहती। जो कार्यक्रम कला-मर्मज्ञों की निगाह में बहुत सुन्दर माने जाते हैं, उनके प्रति व्यापक समाज के उपेक्षा भाव का आखिर क्या कारण हो सकता है ?

इस प्रकार हिन्दी रंगकर्म एक ऐसी स्थिति में है कि समाज के आत्म-साक्षात्कार का या आत्म-बिम्ब की रचना का माध्यम होने की बात तो दूर उसके अस्तित्व का बने रहना ही दुष्कर हो रहा है—विभिन्न प्रकार के सरकारी और गैर सरकारी आयोजनों के बावजूद। लेकिन मेरी मान्यता है कि सर्जन-कर्म के लिए किसी भी प्रकार का खतरा एक रचनात्मक चुनौती होता है क्योंकि उस खतरे का सामना करने की परिस्थिति में ही वह अपने नये आयाम उजागर करता और अपना नया रूपायन संभव करता है। विविध प्रकार की शैलियां यथार्थ तक पहुंचने के विविध रास्ते हैं—लेकिन जहाँ उनके कलात्मक परिणाम भिन्न होते हैं, वहीं उनके उत्स की सामाजिक ज़रूरतें भी भिन्न होती हैं। आज हिन्दी रंगमंच की सामाजिक परिस्थिति और ज़रूरत क्या है ? इसी से यह संकेत मिल सकता है कि हिन्दी रंगमंच का रास्ता क्या है ?

हमारे रंगमंच को यदि हमारी कलात्मक या सांस्कृतिक अनिवार्यता होना है तो ऐसा वह अपने सांस्कृतिक उत्तरदायित्व को निभाकर ही कर सकता है। और यह सांस्कृतिक उत्तर-दायित्व है अपने समाज के आत्म-साक्षात्कार का माध्यम हो पाना। और यह उत्तरदायित्व भी उसे एक ऐसी परिस्थिति में निभाना है जहां समाज न केवल इस आत्म-साक्षात्कार में व्यापक तौर पर उत्सुक नहीं है—बल्कि अधिकांशतः इस तरह की प्रक्रिया के प्रति उसमें एक प्रकार की अरुचि है और जहां कला-प्रक्रियाएं उसके लिए एक स्थूल मनोरंजन का माध्यम मात्र बन कर रह गई हैं।

ऐसा नहीं है कि हिन्दी के रंगकर्मियों को इस महती दायित्व का बोध नहीं है। यह केवल संयोग ही नहीं है कि पिछले अर्से में हमारे अधिकांश रंगकर्मियों का ध्यान लोक नाट्य-रूपों की ओर आकर्षित हुआ है। किसी भी समाज के आत्म-साक्षात्कार का माध्यम बन सकने के लिए उस समाज की संवेदन-प्रक्रिया और उसकी सम्प्रेषण-ग्रहण प्रक्रिया में से गुज़रना ज़रूरी है। दूसरे शब्दों में, लोकचित को जाने बिना हम किसी भी समाज के साथ सम्प्रेषण नहीं कायम कर सकते। आधुनिक हिन्दी रंगमंच की यह एक विडम्बना रही कि उसका प्रारम्भ अपनी परम्परा की बजाय पश्चिमी परम्परा के प्रशिक्षण से हुआ। उस प्रशिक्षण का अधूरापन इसी से जाहिर है कि उन रंगकर्मियों को शीघ्र ही भारतीय समाज में इस पश्चिमी परम्परा की सीमाओं का ज्ञान हो गया और शीघ्र ही उन्हें भारतीय लोक-नाट्य रूपों की ओर संस्कृत रंगमंच के भी अन्वेषण की ज़रूरत महसूस हुई। यह एक शुभ चिह्न था। लेकिन जैसा प्रत्येक नई प्रवृत्ति के साथ होता है। वही इसके साथ भी हुआ। पश्चिमी यथार्थवादी मंच के वातावरण में संस्कृत रंममंच या लोक-नाट्य ताजी हवा के झोंके थे, लेकिन अतिशय प्रचलन और अवि-चारित अनुकरण ने इस प्रवृत्ति को भी लगभग एक मैनरिज़्म-सा बना दिया है। लोक-नाट्य

रूपों को लेकर किसी तरह की सर्जनात्मक अभिवृति के उदाहरण अपवाद स्वरूप ही हैं—अधिकांशतः लोक शैली की मनोरंजनात्मकता का यथावत अनुकरण ही ज्यादा है। छोटे शहरों और कस्बों की रंगमंडलियों में तो यह अनुकरण और भी अधिक फूहड़ और कल्पनाहीन है। दरअसल, प्रत्येक लोकशैली का उत्स किसी न किसी विशेष भाषिक, सामाजिक, प्राकृतिक परिस्थिति में है और उससे बाहर निकलने पर वह एक दफा नवीनता का सुख देती या विस्मित तो करती है, पर अपने प्रदेश से बाहर के दर्शकों को नाट्यानुभव के माध्यम से अपने आत्मान्वेषण की ओर नहीं ले जाती। आधुनिक जीवन से सम्बंधित किसी नाटक को लोक-नाट्य रूपों में नहीं ढाला जा सकता क्योंकि ऐसा करने का मतलब वस्तु और रूप में एक द्वैध पैदा कर देना होगा। हम यदि यह मानते हैं कि वस्तु और रूप को अलग नहीं किया जा सकता तो हमें आधुनिक जीवन के साक्षात्कार के लिए ऐसे रूपों का सर्जन करना होगा जो अतीत के रूपों का अनुकरण न हो। ऐसी स्थिति में हमें लोक-नाट्य विधियों के पीछे काम कर रही भाव-दृष्टि को समझना और उसके आधार पर नई विधियों या युक्तियों की सर्जना करनी होगी—तभी रंगमंच जहां तक नये आत्म-साक्षात्कार का माध्यम बन सकेगा, वहीं वह टी० वी० और फिल्म के बरक्स एक समानान्तर माध्यम की भूमिका का वास्तविक निर्वाह भी कर सकेगा। परम्परा अनुकरण नहीं, सर्जनात्मक विकास होती है—इसीलिए वह कोई विधि या तकनीक नहीं बल्कि उसके पीछे काम कर रही मूल भाव-दृष्टि है। प्रत्येक समाज किसी न किसी प्रकार की मूल भाव-दृष्टि से संवेदित होता है—तभी तो वह एक समाज होता है। अपने समय और परिवेश के अनुसार उस मूल भाव-दृष्टि का नव-नव रूपायन ही परम्परा के साथ एक सर्जनात्मक संबंध बनाना और उसके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करना है। उसे कोई विधि मान कर हर परिस्थिति में उसका यथावत् अनुकरण करना उसे रूढ़ अर्थात् मृत कर देना है। लोक नाट्य रूपों के प्रति वर्तमान आकर्षण और उसके अंधानुकरण के लिए कुछ हद तक वह मानसिकता भी जिम्मेदार है जो नाटक में प्रदर्शन को एकान्त महत्व देती है और जिसे टी० वी० और फिल्म ने और पुष्ट ही किया है। लोक-नाट्य रूपों में एक ओर स्थानीय रंगतों के साथ विचित्र वेश-भूषा और सज्जा प्रदर्शनात्मक वृत्ति को संतुष्ट करती है तो दूसरी ओर कौतुकी क्रियाएं। इनसे दर्शकों का मनोरंजन तो पर्याप्त होता है लेकिन ये कौतुकी क्रियाएं उस गम्भीर अभिनय का स्थान नहीं ले सकतीं जो दर्शकों को अपने अंदर जाने के लिए विवश करता है। लेकिन पिछले कुछ अर्से से इस तरह की कौतुकी प्रदर्शनप्रियता पर आग्रह होने के कारण इन दिनों हो रहे नाटकों में अभिनय को जैसे निर्वासन-सा मिल रहा है। और उन सारी प्रक्रियाओं को केन्द्र में स्थापित किया जा रहा है जो वस्तुतः अभिनय की सहायक हैं। संगीत-नृत्य, प्रकाश, दृश्य-संरचना आदि सभी चीज़ें अभिनेता की सहायता के लिए हैं। नाटक मूलतः एनेक्टमेंट मंचन है, लेकिन जब हम अभिनय के महत्त्व को कम कर देते हैं तो वह प्रदर्शन होकर रह जाता है। हिन्दी रंगमंच में अभी मंचन की बजाय प्रदर्शन पर ज़ोर है।

प्रदर्शनप्रियता के इस माहौल के चलते ही वर्तमान हिन्दी रंगमंच नाट्यालेख को अपेक्षित महत्त्व देता नहीं जान पड़ता—विशेषतः हिन्दी नाट्यलेख को। रंगमंच यदि अपने समाज के आत्म-साक्षात्कार के माध्यम होने की अपनी वास्तविक भूमिका का निर्वाह करना चाहता है तो ऐसा वह अपनी भाषा की सर्जनात्मक प्रतिभा से जुड़े बिना नहीं कर सकता। अभिनय के पिछड़ते जाने का भी एक कारण शायद यही है कि नाट्यलेख के बिना अभिनय बहुत दूर तक

नहीं जा सकता। वहीं दूसरी ओर यह भी सच है कि नाट्यालेख पर आधारित अभिनय कई बार अन्य साधनों के अभाव में भी वांछित प्रभाव पैदा कर सकता है। नाट्यालेख के बिना व्यापक समाज तक नाट्यानुभूति का सम्प्रेषण भी सम्भव नहीं है। मैं यहां इस विवाद में नहीं जाना चाहता कि हिन्दी में उत्कृष्ट नाट्यालेख उपलब्ध हैं या नहीं। तब हमें यह भी मान लेना होगा कि हिन्दी में उत्कृष्ट रंगमंच या निर्देशन भी उपलब्ध नहीं है, चाहे कुछ निर्देशक कितने ही प्रतिष्ठित क्यों न हों क्योंकि जब हम हिन्दी रंगमंच कहते हैं तभी यह मान लेते हैं कि भाषा के बिना यानी नाट्यालेख के बिना रंगमंच संभव नहीं है। अन्यथा हिन्दी रंगमंच मराठी रंगमंच, बांगला रंगमंच आदि कहने का कोई अर्थ नहीं है।

लेकिन हिन्दी में यदि उत्कृष्ट नाट्यालेख पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं हैं तो इसकी ज़िम्मेदारी किस पर है? क्या केवल लेखक पर? या कि रंगकर्मी या निर्देशक पर भी? जब तक किसी भाषा में लगातार नाटक न हों, तब तक उस भाषा की नाट्यात्मक सम्भावनाओं को विकसित नहीं किया जा सकता। विदेशी नाटकों के अनुवाद की भाषा में वह नाट्यात्मकता कभी नहीं आ पाती जो अपनी भाषा के नाटकों में होती है। सच तो यह है कि हमारे रंगकर्मी स्वयं अपनी भाषा की इस नाट्यात्मकता से पूर्णतः परिचित नहीं लगते। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के रंगमंडल तक के नाटकों में अभिनय के वाचिक पक्ष के प्रति जो लापरवाही आजकल दिखाई देती है वही इसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। इस रंगमंडल की प्रस्तुतियों में आजकल जितना ध्यान दृश्य-संरचना, प्रकाश-व्यवस्था, वेशभूषा आदि पर दिया जाता है, उतना वाचिक अभिनय पर नहीं। यह रंगमंडल हिन्दी प्रदेश में रंगमंच को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्थान है और खास तौर पर छोटे शहरों-कस्बों के रंगकर्मी उसे आदर्श के रूप में अपनाते हैं। इसके द्वारा अधिकांशतः अन्य भाषाओं के अनुवाद या कभी-कभी उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। अधिकांश अनुवादों और रूपान्तरों की भाषा की भंगिमा अंग्रेजी की होती है, वाक्य-रचना अस्वाभाविक और शब्दचयन शब्दकोशीय। स्पष्ट है कि ऐसे नाट्यालेखों पर आधारित अभिनय के वाचिक और आंगिक पक्षों में तालमेल नहीं होगा। कम लोगों का ध्यान इस बात की ओर गया है कि इन्हीं कारणों से हिन्दी की कोई अपनी अभिनय शैली विकसित नहीं हो पा रही है। एंग्लो-अमरीकी भंगिमाओं के साथ बोली जाने वाली अस्वाभाविक हिन्दी से यदि हिन्दी का आम दर्शक कोई रागात्मक रिश्ता नहीं महसूस कर पाता, तो इसका दोष उस पर नहीं डाला जा सकता। अभिनय की बजाय तड़क-भड़क या कौतुकी प्रदर्शन को अधिक महत्त्व देने का एक असर यह भी पड़ा है कि छोटे शहरों-कस्बों का रंगकर्म अधिक भटकाव का शिकार होता गया है। प्रत्येक स्थान की अपनी कुछ स्वाभाविक अभिनय प्रतिभा होती है और वही वहां के रंगमंच का प्राण होती है क्योंकि हर ऐसे स्थान पर प्रशिक्षित रंगशिल्पी उपलब्ध होना सम्भव नहीं रहता। लेकिन अब बड़े केन्द्रों के अनुकरण में वहां भी अधिक जोर प्रदर्शनपरकता पर होने से एक ओर जहां साधनहीनता और तकनीकी जानकारी के अधकचरे ज्ञान के कारण यह अनुकरण एक विडम्बना बनकर रह जाता है, वहीं दूसरी ओर, अभिनय-प्रतिभा पर कम ध्यान देने के कारण उसका पहले जितना विकास नहीं हो पाता। इस तड़क-भड़क का आलम यह है कि कभी-कभी बड़े केन्द्रों के प्रदर्शनों में एक नाटक की वेशभूषा और दृश्य-संरचना में जितना खर्च आता है, उतना तो कभी-कभी एक राज्य की संगीत-नाटक अकादमी का नाटक पर किया जाने वाला पूरे साल का बजट होता है। इस तरह की शैलियां

हिन्दी रंगमंच के स्वतन्त्र विकास में कितनी कारगर हो सकती हैं, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। यह कहा जा सकता है कि आर्थिक सवाल कोई सर्जनात्मक समस्या नहीं है। लेकिन उपलब्ध साधनों के आधार पर नाट्य शैली का विकास निश्चय ही एक सर्जनात्मक सवाल है। रंगमंच यदि एक समानान्तर माध्यम है तो उसे ऐसी शैलियों का विकास करना ही होगा जो खर्चीले साधनों पर आश्रित न हो।

वर्तमान हिन्दी रंगमंच हमारी परम्परा की यह बुनियादी प्रतिज्ञा भूलता-सा लगता है कि नाटक दृश्य-काव्य है। दृश्यात्मकता पर तो रंगमंच का जोर अब भी बराबर है—बल्कि बढ़ा ही है—लेकिन काव्य तत्त्व उसमें पिछड़ता गया है। नाटक केवल दृश्य नहीं है, वह दृश्यमान शब्द है— जिसका मतलब है कि वह एक ऐसी विधा है जिसमें शब्द दृश्य में रूपान्तरित होता है और दृश्य के माध्यम से हम पुनः एक काव्यानुभूति तक पहुंचते हैं। इसलिए इसमें शब्द या नाट्यालेख की अवहेलना एक आत्मघाती कदम होगा। लेकिन लगता यह है कि इस प्रदर्शन-परकता का आतंक हमारे नये नाटककारों पर भी पर्याप्त है और इस कारण उनकी अभिव्यक्ति उन्मुक्त नहीं है। उनकी कल्पना एक ओर तो नाटक के यथार्थवादी ढांचे से बाधित है तो दूसरी ओर रंगशिल्प के अज्ञान का बोध उन्हें कुंठित किये रहता है। वस्तुतः रंगशिल्प का ज्ञान नाट्य-लेखन की कोई आवश्यक शर्त नहीं है। नाट्य-लेखन के लिए आवश्यक है लेखक में जीवन के नाटकीय रूप की पहचान और भाषण में अन्तर्निहित नाट्य-सम्भावनाओं के अन्वेषण की प्रतिभा पर आधारित नाट्य-कल्पना की मुक्त उड़ान। हिन्दी में उत्कृष्ट नाट्यालेखों के अभाव का मुख्य कारण यही है कि हमारा नाटककार नाटक लिखना शुरू करने से पूर्व ही रंगशिल्प के आतंक में इतना कुंठित हो जाता है कि वह अपने बनाये संसार में भी मुक्त विचरण नहीं कर पाता। वह भी यह भूल-सा जाता है कि वह केवल दृश्य नहीं, बल्कि दृश्य-काव्य रच रहा है। इसी कारण हमारे अधिकांश नाटक एक स्थूल दैनन्दिन यथार्थ के आसपास ही रहते हैं और इस कारण उनमें उस नाट्यात्मक यथार्थ की रचना सम्भव नहीं होती जो अनुभूत्ति की गहराई और सर्जनात्मक उत्कृष्टता की ओर ले जाये। रंगमंचीय अतिरेक में हम कहीं यह भूल गये हैं कि प्रत्येक नाटक एक भाषिक संरचना भी होता है और इस रूप में उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण यही है कि वह अभिनेय या मंचनीय तो हो ही, पर केवल पढ़े जाने पर भी हमें एक गहरे नाट्या-नुभव तक ले जाये।

मेरे इस विश्लेषण के आधार पर यह आरोप लगाना एक तरह का सरलीकरण होगा कि मैं रंगशिल्प का विरोधी हूं और रंगमंच को केवल नाट्यालेख या अभिनय पर आश्रित कर देखता हूं। मैं रंगशिल्प के महत्व को कम करके नहीं आंकता और यह भी जानता हूं कि रंग-शिल्प रंगमंच की अनिवार्यता है। लेकिन यह तो देखना ही होगा कि रंगशिल्प की सार्थकता किसे कहें। रंगशिल्प का महत्व इस बात में है कि वह नाट्यालेख के मंचन को सम्भव और प्रभावी बनाये या कि स्वयं अपने प्रदर्शन को ही साध्य समझ ले। रंगशिल्प, दरअसल, वह तक-नीक है जो एक नाट्यानुभूति के मंच पर मूर्तिकरण को सम्भव करता है। उपकरण या उसे इस्तेमाल कर सकने की जानकारी नाट्यानुभूति का स्थान नहीं ले सकती। मैं यह मानता हूं कि रंगशिल्प का अधिकाधिक विकास, प्रशिक्षण व जानकारी हिन्दी रंगमंच के विकास के लिए एक आधारभूत आवश्यकता है—लेकिन तब रंगशिल्प की उत्कृष्टता कुछ विशेष साधनों पर आश्रित नहीं होगी—बल्कि उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण यह होगा कि स्थानीय परिस्थितियों में वह किस

तरह उपलब्ध साधनों का अधिकाधिक सर्जनात्मक इस्तेमाल कर सकती है। रंगशिल्प का प्रशिक्षण हमारी रंग-कल्पना को और अधिक उन्मुक्त तथा धारदार बनाने के लिए किया जाना चाहिए—उसे कुछ खर्चीले साधनों पर आश्रित कर बांध देने के लिए नहीं। इसलिए कई बार मुझे लगता है कि हिन्दी-रंगमंच को एक समानान्तर रंगशिल्प के विकास की भी ज़रूरत है—ऐसा रंगशिल्प जो हमारी प्रस्तुतियों को तड़क-भड़क और चकाचौंध और धूमधड़ाके के बरक्स सादगी पूर्ण, किन्तु प्रभावशाली बना सके। ऐसा ही रंगमंच हमारे समाज में व्यापक तौर पर एक आन्दोलन का रूप ले सकता है। साधन सम्पन्न और चकाचौंध वाला रंगमंच सम्भव है कुछ उल्लेखनीय प्रदर्शन अभी दे, पर वह पूरे समाज में एक व्यापक रंग-आन्दोलन का आधार नहीं बन सकता।

हिन्दी रंगकर्म की एक और सीमा है उसकी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति। रंगमंच स्वभाव से ही तात्कालिक और स्थानीय है, अतः उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति उसके सहज-स्वाभाविक विकास के लिए अनुकूल नहीं मानी जा सकती। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी रंगकर्म कुछ बड़े नगरों और उनमें रहने वाले कुछ बड़े रंगकर्मियों में केन्द्रित हो गया है। उनके द्वारा किये जाने वाले काम को ही सार्थक माना जाता है, और अन्य जगहों पर अन्य लोगों द्वारा किया जाने वाला काम अधिकांशतः उपेक्षित रहता है। इसमें स्थानीय स्तर पर काम करने वाले कुछ प्रतिभाशाली रंगकर्मियों के काम की पहचान न हो पाने की शिकायत तो छोटी बात है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके कारण हिन्दी रंगमंच की विकास यात्रा में उनका अपेक्षित योगदान सम्भव नहीं हो पाता। दिल्ली, भोपाल या लखनऊ आदि केन्द्रों पर सभी साधनों की उपलब्धता के बावजूद साधारण कोटि के नाट्य-प्रदर्शनों को जो प्रचार मिल जाता है। उसका लाभांश भी कई बार छोटे स्थानों पर साधनहीनता के बावजूद उत्कृष्ट कोटि के प्रदर्शनों को नहीं मिल पाता। केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति रंगमंच को एक वास्तविक सामुदायिक गतिविधि के रूप में नहीं विकसित होने देती। छोटे शहरों के रंगकर्मियों का दर्द यह है कि वे अपनी प्रस्तुतियों के अधिक प्रदर्शन नहीं कर सकते और अपने शहर कस्बे से बाहर जाकर नाटक कर पाना तो उनके लिए लगभग असम्भव सा होता है। ऐसी स्थिति में अखबारों या पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही वे अपने अनुभवों को दूसरे समानधर्माओं तक पहुंचा सकते और इस प्रकार एक प्रवृत्ति को आन्दोलन का रूप दे सकते हैं—लेकिन अखबारों में (नाट्य-पत्रिकाएं तो हैं ही कहां) अधिकांशतः बड़े केन्द्रों की साधारण घटनाएं ही सारा स्थान खा जाती है—चाहे उनमें मौलिक या विशिष्ट कुछ न हो। और दुर्भाग्य से नाट्य-समीक्षा भी अधिकांशतः ऐसी है जो नाटक का कथानक बता कर किस-किस ने अच्छा या बुरा अभिनय किया आदि पर आकर समाप्त हो जाती है। किसी तरह का नाट्य-चिन्तन या गहरा विश्लेषण उनमें नहीं दिखायी देता। अधिकांश रंगकर्मी यदि नाट्य-समीक्षकों से चिढ़े हुए से लगते हैं तो केवल इसलिए नहीं कि उनकी पर्याप्त प्रशंसा नहीं हुई, बल्कि इसलिए कि समीक्षक यह कदाचित् ही बता पाते हैं कि रंगकर्मी ने अपने माध्यम के साथ वस्तुतः किया क्या है ?

इस तरह से देखा जाए तो हिन्दी रंगमंच का परिदृश्य कोई बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। फिर भी इस बात की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि पिछले तीन दशकों में हिन्दी रंगमंच में जो काम हुआ है, उसमें जहां कुछ उल्लेखनीय प्रदर्शन हुए हैं, वहीं एक व्यापक रंग-चेतना भी विकसित हुई है। बड़े केन्द्रों पर ही नहीं छोटे-छोटे शहरों-कस्बों तक में गैर पेशेवर और अनिय-

मित रग-मंडलियां दिखायी देती हैं जो अपने समय के महत्त्वपूर्ण देसी-विदेशी नाटकों का मंचन करने में रुचि ले रही हैं, और कई बार उनके प्रदर्शन बहुत प्रभावी होते हैं। रंग-शिल्प की बहुत-सी बारीकियां प्रशिक्षण और साधनों के अभाव में चाहे वहां न दिखाई दें, लेकिन कई बार गजब की अभिनय प्रतिभा वहां दिखाई देती है—जो दुर्भाग्य से साधनों और अवसरों के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के चलते अधिक विकसित नहीं हो पाती। लेकिन इस सबका नतीजा यह ज़रूर है कि अब एक ऐसा वातावरण ज़रूर बना है जिसमें रंगमंच की सार्थक भूमिका की तलाश की जा सकती है। इसके लिए जहां तक अपनी भाषा की सृजनात्मक प्रतिभा से अधिक से अधिक जुड़ने की ज़रूरत है, क्योंकि उससे जुड़े बिना अपने समाज के चित से जुड़ना संभव नहीं है—वहीं दूसरी ओर, एक ऐसे रंग-शिल्प के विकास और उसके व्यापक स्तर पर प्रशिक्षण की आवश्यकता भी है जो स्थानीय परिस्थिति और साधनों के बीच अपनी सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति कर सके। स्थानीय साधनों के साथ प्रयोग करने की मानसिकता ही अन्ततः एक व्यापक रंग आंदोलन का आधार बन सकती है। ऐसे नाट्य शिविरों का बन-बन आयोजन किया जाना ज़रूरी है जिनमें वरिष्ठ निर्देशकों के साथ स्थानीय रंग-कर्मियों को काम करने के अवसर मिलें और उनमें इस बात पर बल दिया जाये कि दृश्य-संरचना और रंग-सज्जा आदि में स्थानीय सामग्री का अधिकाधिक प्रयोग कैसे किया जाये। यदि संभव हो तो उस इलाके के नये प्रतिभावान लेखकों को भी शिविर में सम्मिलित किया जाये और उनकी रचनाओं के आधार पर नाट्य लेख, चाहे छोटे-छोटे ही सही—विकसित करने के प्रयत्न किए जायें। अगर हिन्दी के अलग-अलग प्रदेशों में उल्लेखनीय कवि कथाकार हो सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि उनमें अच्छे नाटककार न हो सकें। हमें हिन्दी में अच्छे नाटकों के अभाव की शिकायत करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि आखिर कितने नाटककार ऐसे हैं जिन्हें निरन्तर अच्छे रंगमंच को देखने और उसमें जीवन्त संपर्क में आने के अवसर मिलते हैं, जिनसे कि वे भाषा की नाट्यात्मक संभावनाओं की खोज की ओर प्रवृत्त हो सकें। रंगकर्म और लेखन के बीच एक जीवन्त और निरन्तर सम्पर्क के बिना न तो हिन्दी नाट्यालेखन का विकास संभव है और न हिन्दी रंगमंच का ही। लेकिन इन दोनों का विकास तभी संभव है जब हम रंगकर्म और नाट्यालेखन को अपने समाज के आत्मान्वेषण का माध्यम मानें—केवल प्रभावी प्रदर्शन या स्थूल राजनीति के माध्यम नहीं। और तब हमें इस पर भी विचार करना होगा कि अपने समाज को समझने के हमारे उपकरण और पद्धतियां हम कहां से जुटायें। क्या हम विदेशी तौर-तरीकों या भाव-दृष्टि की सहायता से अपने समाज को ठीक तरह से समझ पायेंगे। हमारी रंग शैली, अभिनय शैली हमारी जीवन-दृष्टि, देशकाल के साथ हमारे रिश्ते का नाट्यात्मक प्रतिफलन होती है और उसके लिए ज़रूरी है अपनी परंपरा के पास लौटना। हमारे सर्जनात्मक प्रयोग भी अन्ततः हमारी अपनी परंपरा के साथ ही हो सकते हैं और इसलिए कह सकते हैं कि परंपरा के सर्जनात्मक विकास के लिए भी उसे समझना, उसे उसी की दृष्टि और परिवेश में देखना आवश्यक है। अपनी परंपरा, अपना मूलभाव—दृष्टि का बोध और समकालीन परिस्थितियों के साथ उसके संघात के परिणामों की पहचान ही किसी समाज के सृजनात्मक आत्मान्वेषण की बुनियादी शर्तें हैं। रंगमंच यदि सामाजिक विधा है तो अपने समाज के समग्र भाव-बोध से जुड़े बिना वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता।

[सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान-334001]

घर

□ जगन्नाथप्रसाद दास
अनुवाद : डा० राजेन्द्रप्रसाद मिश्र

कुछ देर तक ढूंढने के बाद सदानंद ने एक ऐसी जगह निश्चित की जहां छाया में खड़े होकर ठेकेदार से बातचीत करने के साथ ही सीमेंट में रेत मिला रहे मज़दूरों पर भी नज़र रख सके।

घर बनवाने का यह उसका पहला अनुभव था और इस विषय पर उसने अनेक जाने-पहचाने व अनजाने लोगों की राय ली थी। काफी सोच-विचार करने के बाद वह इस नतीजे पर पहुंचा था कि मज़बूत घर बनाने के लिए सीमेंट और रेत का अनुपात ही सबसे महत्वपूर्ण है। इसीलिए वह रोज सबेरे जाकर सीमेंट-रेत मिलाने के काम का मुआयना किया करता था। लेकिन उस दिन उसके पहुंचने से पहले ही रेत-सीमेंट मिलाया जा चुका था और यह बात उसे संदेहजनक लगी। उसने हथेली पर रेत मिला जरा-सा सीमेंट रखकर उसे इधर-उधर घुमा-फिरा कर देखा और अपनी आवाज़ को एक अनुभवपूर्ण गंभीरता देते हुए ठेकेदार से कहा, "मिलावट की मात्रा तो सही नहीं जान पड़ रही।"

सदानंद के मकान बनवाने सम्बन्धी सीमित ज्ञान से ठेकेदार पूरी तरह अवगत था, परन्तु वह यह बात उसके आगे ज़ाहिर नहीं करना चाहता था। उसने भी ज़रा-सा सीमेंट हथेली पर रखकर उसे परखने का बहाना किया और बोला, "आपने सही कहा। मैं थोड़ा-सा उस ओर चला गया था, इन्होंने मिलाने में गलती कर दी!" फिर वह मज़दूरों को जोर-जोर से गाली देने लगा और बोला, "और मिलाओ सीमेंट इसमें।" मज़दूर भी ऐसे नाटकों से अभ्यस्त थे। उन्होंने और सीमेंट मिला दिया। उसमें से एक ने आकर थोड़ा-सा मसाला सदानंद की हथेली पर रखा और सदानंद ने उसे अति गंभीरतापूर्वक देखकर कहा, "ठीक है।"

आज छुट्टी होने की वजह से सदानन्द सुबह ही घर से खा-पीकर यह तय करके निकला था कि दिन भर वहां बैठकर काम देखेगा। काम के पास बैठने के लिए कोई सुविधाजनक जगह नहीं थी। घर से एक कुर्सी लाकर वहां रखने के बारे काफी दिनों से सोचने के बावजूद वह कुर्सी लाना भूल जाता था। इसलिए उसने काम की जगह दो ताक ईंटों पर लकड़ी का पट्टा रख कर बैठने की जगह बना ली थी। सूर्य की गति के साथ ही छाया खिसक जाने व रेत सीमेंट के काम का स्थान बदल जाने पर इस काम चलाऊ कुर्सी को इधर-उधर न कर पाने के कारण वह क्षुब्ध था। आज इस लकड़ी के पट्टे पर बैठे हुए धूप के साथ अपने छाते का कोण ठीक करते हुए उसने यह निश्चय किया कल घर से जरूर कुर्सी लेकर आएगा।

ऐसे में उसे सुभद्रा की बात याद आई जो कि सही मायने में उसके घर की गृहिणी थी। सुभद्रा घर की हर चीज ठीक जगह पर होने में विश्वास रखती थी और सदानन्द जो इतने दिनों तक घर से कुर्सी नहीं ला सका था, उसके लिए वास्तव में सुभद्रा ही जिम्मेवार थी। बीच वाले कमरे में रखी कुर्सी वहां से लाने के लिए सुभद्रा की इजाजत चाहिए थी और सदानन्द उससे इस बारे में कह नही पा रहा था। सुभद्रा के लिए घर था उनके सरकारी क्वार्टर की चाहरदीवारी में रखी खाट, टेबुल, कुर्सी, थाली, बर्तन, ट्रंक, बाल्टी इत्यादि चीजों का संग्रह। सुभद्रा का सारा समय इन चीजों तथा जरूरी, गैर-जरूरी अन्य चीजों की देखभाल करने में ही बीत जाता था। वह सारी चीजें बार-बार ठीक जगह पर रखती थी और उन्हें झाड़-पोंछकर साफ और चमकदार रखने में विश्वास करती थी। इसलिए वह सारा दिन घर साफ रखने अथवा अपने हाथ धोने में व्यस्त रहती थी।

अपना घर बनवाने की योजना के पीछे मूल प्रेरणा सुभद्रा ही थी। सरकारी नौकरी में कभी-कभी सदानन्द का तबादला भी होता था जिसके कारण सुभद्रा को घर बदलना पड़ता था। वह सुभद्रा के लिए एक अनावश्यक कष्ट था। हालांकि नये घर में रहने के कुछ ही दिनों के अन्दर वह हर चीज के लिए एक उपयुक्त जगह निर्धारित कर देती थी, परन्तु वह अपना घर चाहती थी जहां हर चीज की एक निश्चित जगह होगी। इसके लिए वह बार-बार सदानन्द को जगह खरीदकर घर बनाने को प्रोत्साहित किया करती थी।

सदानन्द विशेष उच्चाकांक्षी नहीं था। उसने यह सोचा था कि नौकरी पूरी होने के बाद वह पुनः गांव लौटकर अपनी थोड़ी-सी जमीन में खेती बाड़ी करके जीवन बिताएगा। लेकिन ऐसा उसने काफी दिन पहले सोचा था। उसके बाद उसने शादी की थी, उसके एक लड़का हुआ, जिसे स्कूल-कालेज में पढ़ाना पड़ा, और इसी बीच काश्तकारी कानून आदि में तरह-तरह के बदलाव के कारण उसकी गांव की जमीन पर उसके स्वत्वाधिकार को लेकर आशंका पैदा हो गई थी। इसलिए उसने आसानी से सुभद्रा की बात मान ली थी और घर बनवाने के लिए जमीन ढूंढ़ने में जुट गया था।

उसके दफ्तर के अनेक सहकर्मी उससे अपनी लड़कियों के लिए लड़का ढूंढने की कठिनाई के बारे में आ-आकर बताया करते थे। सदानन्द को लगा कि जमीन ढूंढना भी ठीक वैसा ही कष्टदायी काम है। वर-पात्र के लिए जिस तरह चार लोग आकर सूचना देते थे, उसी तरह उसके जान-पहचान के लोग भी आकर उसे इस बात की गुप्त सूचना दिया करते थे कि जमीन कहां-कहां बिकाऊ है। अधिकतर यही होता कि जब तक वह जमीन मालिक के पास पहुंचता, पात्र की शादी कहीं और तय हो गई होती है, अर्थात जमीन का सौदा किसी और ने कर लिया होता या फिर दहेज का आंकड़ा सदानन्द की क्षमता से बाहर होता था। लेकिन सदानन्द मेहनती और लगनशील था। वह कुछ ही दिनों में कई सरकारी, गैर सरकारी, देवोत्तर, वाकफ जबर्दस्ती दखल और लावारिस जमीन की तफसील जुटाने में कामयाब हो गया था। हर रोज दफ्तर के बाद वह जमीन खरीदने की कोशिश में लगा रहता और अन्त में उसकी कोशिश सफल भी हुई। उस दिन शाम को बुजुर्ग मुसलमान सज्जन को जमीन के लिए बयाना देकर लौटाने के बाद उसने सुभद्रा को यह खबर दी और चैन की सांस ली।

जमीन के लिए पैसे इकट्ठे करना अगला चरण था जो कि समान रूप से मुश्किल था। अपने मकान बनाने के ऋण के आवेदन-पत्र को वह विभिन्न स्तरों से आगे बढ़ाते हुए अन्त में

सक्षम प्राधिकारी के दस्तखत करवाने में सफल हो गया और जमीन के मालिक को उसका बाकी रुपया देकर जमीन की रजिस्ट्री का काम भी पूरा कर लिया। लेकिन इतने में ही सदानन्द की चिन्ता और परिश्रम की इति नहीं हुई। घर बनवाने से सम्बन्धित कायदे-कानून वैदिक रीति के यज्ञानुष्ठान के नीति-नियमों से किसी तरह कम नहीं थे। अपने इंजीनियर मित्र के पास बार-बार जाकर और उसकी तरह-तरह से खुशामद करके पहले उसने घर का नक्शा बनवाया। यह एक समय लेने वाला काम था क्योंकि घर के नक्शे पर वह सुभद्रा का अनुमोदन चाहता था। सुभद्रा और इंजीनियर सीधे नहीं मिलते थे। सुभद्रा की राय और इंजीनियर के स्पष्टीकरण व संशोधन के कारण सदानन्द को बार-बार इधर-से उधर आना-जाना पड़ता था। पूजा घर के आकार-प्रकार, नहान घर की खिड़की की ऊंचाई, रसोईघर और बैठक घर की दूरी इत्यादि के बारे में सुभद्रा की एक निश्चित राय थी और उसे नक्शे पर प्रतिबिंबित करना इंजीनियर की विद्या-बुद्धि की एक जटिल परीक्षा थी।

जिस दिन इंजीनियर के आफिस से नक्शे की दस प्रतियां लेकर सदानन्द घर लौटा, उसके चेहरे पर एक ओलम्पिक विजेता का-सा उल्लास था। नक्शा हाथ में लिए हुए सुभद्रा और वह कुछ देर तक देखते रहे। नक्शा सुभद्रा के मन मुताबिक बिल्कुल नहीं था। घर के ऐलिमेसन के चित्र को इंजीनियर ने पेड़-पौधों, विदेशी गाड़ी आदि से सजाकर अति आकर्षक बना दिया था जो कि सदानन्द को अति सुन्दर लग रहा था, लेकिन इस घर के चित्र के आगे केवल एक स्त्री और पुरुष का चित्र बना था एवं उसमें रम्मू का चित्र न होने की वजह से सुभद्रा विशेष नाराज हुई। सदानन्द उसे रम्मू के बारे में बताने ही वाला था, परन्तु चुप रहा, क्योंकि तब तक सुभद्रा नक्शे के कमरे में कहां कौन सी चीज रखी जाएगी तथा दीवार पर किस जगह कितनी-कितनी बड़ी कीलें लगाएगी उस बारे में चिंतित थी। जब सुभद्रा ने पानी के नल पुनः गिनने शुरू किए सदानन्द वहां से उठकर चला गया।

सदानन्द का विजयोल्लास क्षणिक था, क्योंकि जल्दी ही उसे दूसरी दौड़ में भाग लेना पड़ा, जो कि एक बाधा-दौड़ थी। इस बार बाधाएं थीं टाउन प्लानिंग, म्युनिसपैलिटी, बिजली और जल आपूर्ति विभाग आदि। इन्हें लांघना समय, श्रम और व्यय से जुड़ा था, लेकिन सदानंद लगनपूर्वक उन्हें भी लांघ गया और सारे नक्शे यथासमय विभिन्न दफ्तरों से 'स्वीकृत' की मुहर अपनी पीठ पर लादे उसके पास लौट आए। अब वह खेल के मैदान के ऐसे भाग में पहुंच चुका था जहां से घर बनाने की सामग्री जुटाने की मैराथन रेस शुरू होती थी। ईंट, लकड़ी, सीमेंट और लोहे की छड़ों के करीब पहुंचते ही वे सब और दूर खिसक जाते थे। लेकिन सदानन्द ने उन्हें भी नियन्त्रित कर लिया और अन्त में एक शुभ दिन देव पूजा करवाकर उसने जमीन की खुदाई काम शुरू करवा दिया।

आज छुट्टी के दिन धूप में ईंट की ताक और टूटे पटरे की कुर्सी पर बैठ दीवार के अति धीमे विस्तार को देखते वक्त सदानन्द के दिमाग में घर बनाने के कार्यक्रम का दुखद अध्याय उभर आया। उसके दफ्तर के सहकर्मी इस समय उसे सुख निद्रा में सोते हुए दिखे एवं ऐसी योजना में हाथ डाले होने के कारण उसने खुद को फिर कोसा। उसे घर बनवाने सम्बन्धी ऐसे अनेक अप्रिय अनुभव याद आए, जिन्हें वह भूल जाना उचित समझता था। जैसे कि, बीच-बीच में दफ्तर से चले आने के कारण हाकिम से गाली सुनना लोहे की छड़ें लदी ट्रक के डाले पर बैठकर जाते समय किसी सहकर्मी के देख लेने परझेंपना, सीमेंट के परिमिट के लिए सप्लाई आफिसर के कमरे में

घुसते समय कहीं से दौड़ते हुए आकर चपरासी का उसे लगभग धकेलते हुए बाहर निकालने का अपमान इत्यादि। इन सब खास-खास घटनाओं के अलावा उसे दिखाई दिए जैसे गरमी में भी उसे एक गिलास पानी न देने वाला मकान मालिक, रजिस्ट्री आफिस में उससे दस रुपये रिश्वत लेने वाला क्लर्क, ऋण मंजूर करने वाला आफीसर, मीनमेख निकालने वाला अकाउंटेंट इत्यादि उसका मन खीझ से भर गया। कुर्सी से उठकर उसने ठेकेदार को काम की धीमी गति के बारे में कहा। अति आज्ञाकारी की तरह ठेकेदार मजदूरों की ओर चिलाया। सदानन्द सीमेंट की मात्रा के बारे में कहने वाला था, लेकिन वे लोग जरूरत से अधिक सीमेंट मिलाकर उसीका नुकसान करेंगे, यह सोचकर वह चुप रहा।

वह जिस पटरे पर बैठा था वह कष्टदायी था, इसलिए काम देखने के बहाने वह खड़े होकर इधर-उधर घूमने लगा। छाता बाएं हाथ से दाहिने हाथ और दाहिने हाथ से बाएं में करते रहने के बाद अंत में उसे बन्द करके कुछ देर तक धूप में खड़ा रहा। उसने कलाई-घड़ी देखी, किंतु दिन अभी काफी बाकी था। उसने फिर छाता खोल लिया और पटरे के पास लौटकर उस पर आराम से बैठने की कोशिश करने लगा। ठेकेदार सदानंद की मनस्थिति समझता था और उसकी नाड़ी-नब्ज जानता था। वह समझ गया था कि सदानंद का उस दिन का काम करवाने का उत्साह पूरी तरह टूट चुका है। इसे वाजिब समय मानकर उसने कहीं से चाय मंगवाकर सदानंद को पीने को दी।

चाय पीते हुए सदानंद ने मन ही मन ठेकेदार को एक सच्चे आदमी होने का सर्टिफिकेट दिया और खाली कप नीचे रखते समय खुद को कुछ प्रफुल्लित महसूस किया। अब उसने अपने घर की बात याद करने की कोशिश की। हालांकि सुभद्रा घर की व्यवस्था के प्रति लापरवाह नहीं थी, पर उसे सदानंद के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं था। सुभद्रा अपना सारा वक्त घर चलाने, पूजा करने तथा घर और खुद को साफ-सुथरा रखने में बिताती थी। इसके अलावा सुभद्रा सदानंद की एक कठोर आलोचक भी थी और सदानंद जो कुछ करता, सुभद्रा को उसमें छिद्र दिखाई देता था। इसके लिए सदानंद को सुभद्रा से हर पल शास्त्रोपदेश सुनना पड़ता था। सुबह उठकर खुद अपनी चाय बनाते समय, यद्यपि सुभद्रा सोयी रहती, सदानंद चाय में चीनी डालते वक्त सुभद्रा की नींद सहसा खुल जाती और वह उसे अधिक चीनी डाले होने के कारण डाक्टर का उपदेश याद दिलाकर नियंत्रित करती थी। इसी तरह दिन भर उसे नहाने के पानी की मात्रा, पहने हुए शर्ट के रंग की उपयुक्तता, उस दिन आफिस जाते समय छाता ले जाने के औचित्य को लेकर सुभद्रा से वक्रोक्तियां सुननी पड़ती थीं। इन सबको एक दार्शनिक दृष्टि से अनसुना करने की कोशिश करके भी वह सफल नहीं होता था और इसी वजह से अधिकतर उसमें केवल पारिवारिक जीवन से ही नहीं, संपूर्ण जीवन से विराग होता था।

उसके जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप की तरह यह परिकल्पित घर भी सुभद्रा के मनमुताबिक नहीं था। एक दूसरे धर्म के आदमी से ज़मीन खरीदने पर उसे धार्मिक आपत्ति थी और उस ज़मीन के आकार के बारे भी सौंदर्यगत दृष्टि से वह संतुष्ट नहीं थी इसलिए दूसरी ज़मीन खरीदने के लिए वह सदानंद को बार-बार उकसाती थी। जब सदानंद उसी ज़मीन पर घर बनाने के लिए नक्शा बनवाने लगा, सुभद्रा ने इसे सदानंद का निकम्मापन या अपनी राय के प्रति अवहेलना समझ ली और इससे उसे सदानंद के साथ तर्कवितर्क करने का ईंधन मिल गया। इस तरह घर बनवाने के उद्यम के विभिन्न चरणों में सदानंद को बाहरी दफ्तरों के साथ

खंडयुद्ध करने के साथ ही रोजाना गृहयुद्ध का सामना भी करना पड़ता था। इस गृहयुद्ध में सदानंद हमेशा क्षत-विक्षत होता था, क्योंकि सुभद्रा के पास एक अमोघ अस्त्र था जिससे वह समय-असमय सदानंद पर वार किया करती थी। सुभद्रा कहती, "मैं उस घर में नहीं रहूंगी" और यह सदानंद के लिए अंतिम बात थी।

सदानंद के जीवन में दूसरा दुःख था रम्मू। उम्र बढ़ने के साथ-साथ उनसे दूर होता गया और अब इतनी दूर निकल चुका था जहां से अपरिचय की सीमा रेखा शुरू होती थी। हालांकि एकमात्र संतान के रूप में सदानंद ने रम्मू को स्नेह और प्यार देने में कोई कोताही नहीं की, कालेज में पढ़ते समय ही रम्मू अपने मन में अपने लिए एक अलग घर बना चुका था जिसमें सदानंद और सुभद्रा के लिए कोई जगह नहीं थी। कालेज में पढ़ते वक्त वह किसी राजनीतिक कार्यकलाप से जुड़ गया था और यह बात सदानंद को पसंद न होने के कारण उसने सहज ही उनसे संबंध तोड़ लिए। आगे चलकर वह धर्म अनुयायी हो गया था और तरह-तरह के साधु-संतों के पास जाकर समय बिताया करता था। रम्मू की राजनीति की तरह उसका धर्म अनुयायी होना भी सदानंद को पसंद नहीं था। अब रम्मू नौकरी करने लगा था, लेकिन नौकरी से कितनी आय होती थी, उस बारे में कभी किसी से कुछ नहीं कहता था। मानो वह अपने ही घर में एक अतिथि था, या पेइंग गेस्ट था क्योंकि माह के प्रथम सप्ताह में वह कुछ रुपए सुभद्रा को दे दिया करता था। कई साल पहले ही सदानंद और सुभद्रा उससे संपर्क स्थापित करने की कोशिश करके असफल हुए थे और अब उन्होंने उस दिशा में प्रयास करना ही छोड़ दिया था। बल्कि उन्हें डर था कि यदि उन्होंने इस बारे में अधिक दबाव डाला तो रम्मू घर छोड़कर कहीं और न चला जाए।

सदानंद चाहता था कि रम्मू उसकी घर बनवाने की योजना में कुछ मन लगाए, लेकिन रम्मू इससे कोसों दूर रहता था। काफी साहस बटोरकर सदानंद सिर्फ एक बार रम्मू को घर का नक्शा दिखाने में सफल हुआ था परन्तु रम्मू नक्शे को अति उपेक्षा से देखने के बाद केवल 'हुंह' कहकर वहां से चला गया। घर के नक्शे में सदानंद ने रम्मू के लिए एक कमरा निश्चित किया था और उस कमरे से अपने कमरों के साथ खिड़की, दरवाजे, बरामदे से होकर संपर्क बनाने की व्यवस्था की थी। लेकिन सदानंद जानता था कि यदि भविष्य में रम्मू उनके साथ रहने को तैयार होगा भी तो वह अपने कमरे की खिड़की दरवाजे सब बन्द करके उनसे खुद को अलग कर लेगा। रम्मू ने शादी करने से इंकार कर दिया था और घर-गृहस्थी बसाने की उसकी कोई योजना नहीं थी। बीच-बीच में वह किसी-किसी आश्रम में कुछ समय बिताकर आता। कई बार सदानंद को यह डर लगा रहता कि रम्मू कभी घर छोड़कर कहीं चला न जाए, क्योंकि रम्मू के मन में एक यायावरी नशा था।

लकड़ी के पटरे के बेढंगे आसन पर बैठे छुट्टी के दिन की ऊब भरी दुपहरी में घर की बात सोचते समय सदानंद का मन दमघोंटू दुःख से भर उठा। इतने परिश्रम और कष्ट से बन रहा यह नया घर उसे एक विडंबना-सा लगा। उसकी सेवा-निवृत्ति को और कुछ ही वर्ष बचे थे और उसके बाद उसके जीवन की आस एक-दो दशक और होगी। उसके मन में कई सवाल उठे। किसके लिए है यह सुदृढ़ नींव और उपयुक्त मात्रा में रेत-सीमेंट मिली दीवारों से बना सुदूर समयदर्शी घर? किसके लिए हैं दरवाजे, खिड़कियां, ताक, कुर्सियां रखने की जगह और इतने सारे नल? इस घर की प्रत्येक ईंट-छड़ से असहयोग करने वाली अपनी पत्नी के लिए या

आश्रम में एक कदम धरे अपने यामावर बेटे के लिए ? क्या लाभ या हानि है यदि सारी दीवारें टूट-फूटकर ढह जाएं दस बीस वर्षों में ? किस उपलब्धि की आस में सुबह-शाम समय-असमय छुट्टी के दिनों की दुपहरियों में घर की दीर्घायु के लिए उसका यह हांफता पर्यवेक्षण है ? मनुष्य को ज़मीन चाहिए ही कितनी ?

जब सदानंद छाता बंद करके उठ खड़ा हुआ, धूप हल्की हो चली थी। वह उस पत्थर के पास गया जहां मिस्त्री काम कर रहा था और उसने अन्यमनस्क-सा मुट्ठी में थोड़ा-सा रेत मिला सीमेंट उठा लिया। मुट्ठी कुछ ढीली की और समय की सारी रेत धीरे-धीरे उसकी मुट्ठी से गिर गई। उसने उसांस लेकर घर लौटने को डग बढ़ाया ही था कि ठेकेदार उसके आगे आकर खड़ा हो गया। ठेकेदार की ओर कुछ देर देखते रहने के बाद सदानंद ने कहा, "मैं कल ठीक साढ़े आठ बजे आ जाऊंगा। रेत-सीमेंट की मात्रा ठीक रहनी चाहिए।"

कहानी

अधमूंडिया राक्षस

□ योगेश्वर शर्मा

मेरा छोटा बेटा पप्पू परियों की कहानियां नहीं सुनता।

"बेटे, एक परी थी नीलपरी। बड़ी-बड़ी कज़रारी आंखों वाली। बादलों के गुदगुदे फाहों में लुकान-छिपी करती, कभी इधर से उधर, कभी उधर से इधर उड़ती थी। पंख थे उसके सलोने-मोरपंखी। मुस्कराती तो फूल झड़ते। चारों दिशाओं में तितली-सी डोलती और रात को कालियाघाट के उस पार जो झिलमिल सतरंगा पानी है, उसमें नहाने उतर जाती।"

"पापा, नींद आ रही है।" पप्पू उबासी लेता है।

उसकी मम्मी उसके माथे पर हाथ रख देती है और उसके सिर को हलके से सहलाने लगती है।

"कोई लोरी सुनाऊं बेटे, चंदा मामा दूर के, पूए पकाए···"

"मम्मी, अब चुप भी करो। प्लीज़ मम्मी।"

पप्पू लोरी भी नहीं सुनता। ठीक से सोता भी नहीं। बार-बार सहम जाता है। डरा-डरा-सा रहता है। कभी-कभी चीख पड़ता है, "मम्मी मुझे बचाओ! पापा, पापा मेरे करीब बैठो।"

पप्पू को कौन-सा डर व्याप गया है? उसकी बाल-सुलभ हंसी और चपलता को कौन उड़ा ले गया है? उसके व्योम-विहारी सतरंगी पंख किसने कुतर रखे हैं? मैं नहीं जानता। जानता भी हूं लेकिन चुप रह जाता हूं।

मैंने अपनी दादी और नानी से परियों की कथाएं सुनी हैं। आपसे सच कहूं मैं पप्पू बनना चाहता हूं। सलोने बचपन की जिस दहलीज़ को मैं वर्षों पीछे छोड़ आया हूं, मैं चाहता हूं अपनी उसी दहलीज़ तक लौट आऊं और दादी अम्मा से कहूं, "कोई लोरी सुनाओ, परियों की सारी कहानियां एक-एक कर सुनाओ! मैं बहुत थक गया हूं!"

मेरे ख्यालों की परछाइयां क्रमशः लम्बी होती हुई अपनी रूपहली चादर की आगोश में मुझे समेट लेती हैं। मैं सपनों में उड़ने लगता हूं। ऊपर, बहुत ऊपर। नील परियां और फरिश्ते मुझे नीले गगन की छांव में ले जाते हैं और कुछ इस तरह मुस्कराते हैं जैसे मैंने इस धरती के किसी प्राणी को मुस्कराते नहीं देखा। मेरे कानों में स्वर्गिक संगीत की अनहद घंटियां बजती हैं और फरिश्ते मुझसे कहते हैं, "लो, यहां घर बनाओ अपना। यह सारा आसमान तुम्हारा है।"

मैं सपना देख रहा हूं शायद। लेकिन अपने सपने को किसी के समक्ष खुलकर बता भी नहीं सकता। बस पप्पू की पीठ थपथपा देता हूं, "बेटे, जब तुम पढ़-लिखकर, अब्बल से अब्बल आते रहोगे तो हमारी नेमप्लेट आसमान की उस बुलंदी पर टंगी होगी।"

पप्पू भौंचक्का-सा मुझे देखता है, "आपने क्या बोला पापा ? आसमान की बुलंदी और नेमप्लेट !" वह मेरे माथे को टटोलता है, "आपको बुखार है पापा। माथा गर्म है।"

मैं पप्पू को कैसे समझाऊं ? वह नानी अम्मा और दादी अम्मा की उस स्वप्निल परम्परा से हट कर है। मुझे हल्का-सा अहसास होता है कि वह पप्पू नहीं है और जिसे वह समझा रहा है, वह उसके पापा नहीं, पप्पू है !

पप्पू रात को यकायक जाग जाता है और मेरे सपनों को चिंदी-चिंदी कर देता है।

"सो जाओ बेटे।"

वह पहले मुझे टुकुर-टुकुर देखता है और अपनी मां के गले से चिपक जाता है।

उसकी मां उसे गर्म दूध में बॉर्नविटा घोलकर पिलाना चाहती है लेकिन वह गिलास को झटक देता है। सिर्फ फ्रिज़ का ठंडा पानी पीता है और ऊंघने लगता है।

उसकी मां को आशंका है कि उसे किसी भूतप्रेत का परछांवा पड़ गया है। मैं उसे समझाता हूं कि आज के सभ्य, सुसंस्कृत युग में भूतप्रेत जैसी कोई चीज़ नहीं होती। वह नहीं मानती और हनुमान चालीसा का पाठ शुरू कर देती है। मैं करवट बदल लेता हूं। नींद भी उचट चुकी है और सपने भी बिखर गये हैं। लेकिन एक ख्याल कनखजूरे की तरह मेरी नस-नस में रेंगने लगता है कि सचमुच आज के सभ्य और प्रगतिशील युग में भूतप्रेत जैसी कोई चीज़ नहीं होती क्या ? कनखजूरा अब दिमाग की नसों को जोर जोर से कचोटता है। मैं सिगरेट सुलगा लेता हूं। कमरे में अगरबत्ती और सिगरेट का धुआं एकाकार हो रहा है और मैं सोच रहा हूं कि असली भूत और नकली भूत में कितना अन्तर होता है ? यह कैसी विडंबना है कि मेरी दादी ने मुझे हमेशा परियों की कहानियां सुनाईं और मेरे दादा ने मुझे हमेशा भूतों की कहानियां सुनाईं। यह भी विडंबना ही है कि दादी की कहानियों में परियां असली थीं और दादा की कहानियों में भूत नकली थे। मैंने अपनी डायरी खोली और 'थॉट फॉर टूडे' लिख दिया—"आज परियां नकली हैं और भूत असली।" मेरी बीबी ने डायरी पढ़नी चाही लेकिन मैंने टाल दिया, "हनुमान चालीसा के पाठ में विघ्न मत डालो, पप्पू फ़िर चौंक जाएगा।" वह बेचारी ध्यानमग्न होकर मन्त्र गुनगुनाने लगी।

रसोई में शायद बिल्ली घुस आयी है। बाथरूम का नलका कुछ दिनों से खराब है। पानी टप-टप गिरता रहता है। खिड़की का शीशा चटक गया है। सीलिंग फैन खर्रर-खर्रर की कर्णकटु आवाज़ करता है और सामने का दरवाज़ा खुलते और बंद होते चर्र-चर्र की आवाज़ करता है। लाख तरतीब से सजायी-संवारी दिनचर्या बिला वजह बेतरतीब हो जाती है।

मैं दूसरी सिगरेट सुलगा लेता हूं और चुपचाप अपने अध्ययनकक्ष में बैठ जाता हूं। नितांत अकेला। नितांत मननशील। मेरी बीवी ने शायद हनुमान चालीसा का पाठ पूरा कर लिया है और अब पप्पू के लिए रंगबिरंगी नये डिज़ाईन की स्वेटर बुन रही है। मैं झीने परदे की ओट से झांकता हूं। मुझे पता है इस बार भी वह स्वेटर में नीली-पीली तितली का डिज़ाईन टांक देगी और पप्पू उसे पहनेगा नहीं।

"मम्मी, ये तितलियां अब कहां मिलती हैं ? तुम्हारी वह परी इन तितलियों को कहां-कहां ढूंढती है ?" पप्पू इस बार खिलखिला कर हंस देता है। उसकी इसी हंसी के लिए हम तरसते रहते हैं। हम चाहते हैं कि वह हंसे ताकि हम भी खिलखिलाकर हंस सकें। लेकिन यह सब क्षणिक होता है। वह फिर सहम जाता है। किसी जाने, अजाने भय से कांपने लगता है,

"ओह नो मम्मी, मुझे परियों की कहानियां नहीं चाहिए। प्लीज मम्मी, मुझे सोने दो !"

मेरी बीवी बड़ी सीधी-सादी है। बहुत धर्मभीरू और भोली है। बहुत भावुक है। उसे न घूमने का शौक है, न सिनेमा का ! उसकी दुनिया बड़ी सीमित है ! बड़ी-बड़ी उलझी-उलझी बातें समझने के लिए उसके पास न इतनी बड़ी धरती है, न इतना बड़ा आकाश। यह सारी जिम्मेदारी मेरे हिस्से आई है। पप्पू अभी बच्चा है लेकिन वक्त की संजीदगी और इर्दगिर्द के परिवेश को थोड़ा-थोड़ा समझने की उलझन उसमें बड़ी तेजी से उभर रही है।

पप्पू स्कूल जाता है। इर्द-गिर्द काफी कुछ देखता है। काफी कुछ सुनता है। कुछ अखबारें, पत्रिकाएं भी देखता होगा। फिल्में तो देखता ही है। समाचार सुनता है। डरावनी तस्वीरें देखता है। कोई उसे डराता भी है। उसके कई सहपाठी, बहुत से अंकल और आंटी, उसका यह शहर उसे वक्त की पाशविक मानसिकता का नक्शा बार-बार खोलकर दिखाते हैं ! सड़कों पर लूले, लंगड़े, अंधे, काने बच्चे-बच्चियों को भीख मांगते हुए वह सोचता होगा कि शायद इनका भी कोई 'बॉस' होगा। बेहद डरावना, बेहद क्रूर ! उसे शायद पता चल गया है कि भींचे हुए जबड़ों में बीड़ी खोंसे, तहमत लपेटे, लाल-लाल आँखों से जो इधर से उधर और उधर से इधर बेझिझक लम्बी-लम्बी डगें भरता है। छाती फुलाता है और किसी को भी कॉलर से पकड़कर घूंसा मारकर चित्त कर सकता है, वह अलां या फलां गली का 'दादा' है और उसके पास चाकू भी है और बंदूक भी। उसे न कानून की परवाह है, न ऊपर वाले की। उसकी 'पहुंच' खास-खास लोगों में है और उसकी उन्हें बहुत ज़रूरत है ! चरस, गांजा, नशा और तस्करी, अपहरण या कत्ल करने की कई वारदातें पप्पू अपने अत्यन्त संवेदनशील मन में बहुत गहरे तक महसूसता है और घर आकर अनमना-सा कह देता है, "मम्मी भूख नहीं है।"

पप्पू को मैंने ही कहा था कि बेटे तुम्हें अपने देश और पूरी दुनिया के हालात की जानकारी होनी चाहिए। तुम्हारा जनरल-नॉलिज बहुत अच्छा होना चाहिए। वह आज्ञाकारी है। कुशाग्रबुद्धि है और हमारी बात को मानता है। वह 'जनरल नॉलिज' समेट रहा है। मुझसे ढेरों सवाल पूछना चाहता है, लेकिन उसे पता है उसके पापा उसके सवालों का जवाब देते हुए सिर से पैर तक कांप जायेंगे इसलिए वह कह देता है, "मुझे पता है पापा; आई कैन फॉलो इट।"

इसलिए मैं पप्पू को खरगोश और परियों की कहानियां नहीं सुनाता। मैं उसे डरावनी कहानियां सुनाता हूं। बहुत डरावनी। ताकि बड़े डर के सामने छोटा डर बौना पड़ जाए।

"बेटे, मेरे दादा कहते थे कि उनके दादा ने एक बार यहां अध मुंडिया राक्षस देखा था। यह जगह पहले बहुत बियावान थी। यहां एक अधमुंडिया राक्षस रहा करता था। उसकी छाती पर आंखें थीं।"

पप्पू विस्फारित नज़रों से मुझे देखता है।

"डर मत बेटे, मेरे दादा ने नहीं देखा। उनके दादा ने देखा था। मेरे दादा के ज़माने में वह राक्षस चला गया था। बस्ती बस गई थी। शहर ने अपने विशालकाय डैने फैला दिए थे। आदमी सभ्य और साक्षर होने लगा था। हमने बड़ी तरक्की कर ली। अधमुंडिया राक्षस अब पता नहीं कहां रहता है ?···अब सो जाओ बेटे। हमारे बुजुर्ग इतने भयावह डर के साये में सो जाते थे। निपट अकेले, और हम···"

पप्पू सो गया ! उसकी मां सो गई। लेकिन मैं नहीं सोया।

अधमुंडिया राक्षस क्या सचमुच दूर, बहुत दूर चला गया है ? मैं खिड़की खोलकर

बाहर देखता हूं। शहर की तमाम बत्तियां—मुझे लगता है—छाती में आंखों की तरह चिपक गई हैं। मैं बार-बार सिगरेट सुलगा लेता हूं। कोई किताब अच्छी ही नहीं लगती कि उसे पढ़ सकूं। कोई अखबार अच्छी ही नहीं लगती कि उसे दुबारा देख सकूं। लगभग तमाम खबरें मुझे अधमुंडिए राक्षस की तरह लगती हैं; जो छप गई हैं, वे भी, जो नहीं छपी हैं, वे भी।

मैं नींद की गोली गुड़क लेता हूं। लेकिन नींद नहीं आती।·· मैं थोड़ा बहुत साधन संपन्न हूं। अपनी ओर से कुछ परोपकार के काम भी करता रहता हूं। आदर्शों पर चलने की कोशिश करता हूं। कानून का पालन करता हूं। भगवान से डरता हूं। पाप करने से भी डरता हूं। थोड़ा भी किसी को दुःखी देखता हूं तो मन द्रवित हो जाता है। फिर भी क्या कारण है कि मेरे बेटे को परियों की कहानियां पसंद नहीं और मुझे अधमुंडिये राक्षस का भूत हमेशा डराये रहता है!

मेरे दादा कहते थे, "बेटे, वक्त आयेगा, कलयुग, घोर कलजुग! आदमी के पाप का घड़ा भर जायेगा और बारह कोस पर दीया जलेगा।"

उस समय मैं थोड़ा नासमझ था। दादा जी से पूछ न सका कि बारह कोस तो 'नज़ीक' ही होता है! फिर वह कैसा दीया होगा? घर- रसोई में जलने वाला या अधमुंडिए राक्षस की छाती में जलने वाला!···आज भी आदमी कोसों भागता है घुप्प अंधेरे में। वह दीया कहां है?

पिछले कल ही मैंने आफिस में अपने दोस्त मदन से पूछ लिया, "कोई अच्छी खबर सुनाओ भाई।"

सारा आफिस हंस पड़ा, "लो जी, सुनो, शर्मा साहब अच्छी खबर पूछ रहे हैं!"

मेरे एक बुजुर्ग लेखक बंधु ने एकबार मुझे बड़े पते की बात कही थी, "देखो पुत्तर तमाम अखबारें पढ़ना बंद कर दो। तकरीरें सुनना बंद कर दो···दुनिया बड़ी खूबसूरत है!"

लेकिन यह सब करना इतना सहज है क्या? मेरे सहपाठी गणेश ने मुझे कहा था, "दिस एसकेपिज़्म वोंट हैल्प, मिस्टर शर्मा।"

अब आप ही कहिए मैं क्या करूं?

अभी कुछ दिन पहले मेरा यह शहर बेहद बहशीपन की दहशत से थोड़ा बहुत उबरा है। लेकिन एक अनाम, मरघट जैसा सन्नाटा इसकी छाती में अभी भी चस्पां है। लोग सहमे-सहमे से हैं। एक भूकंप जैसी घरघराहट इसकी नीवों पर ठक से बजती है—धाक-धाक, ठाक-ठाक, धड़ाक-धड़ाक।···

मुझे याद आया। मैंने उस बूढ़े को अर्धविक्षिप्त अवस्था में तड़पते, बिलखते देखा था। शायद पप्पू ने भी छिपकर देखा हो।

वह बूढ़ा कहता था, "यह अन्धड़ शायद उस घने, बियाबान जंगल से आया होगा साहब, जहाँ जड़ों तक सूरज की किरणें आज तक नहीं पहुंची। जहां ऐसे पेड़ हैं जो टहनियों को नश्तर बनाकर आदमी का खून चूस लेते हैं।"

मैं चुप! किंकर्त्तव्यविमूढ़। मुहल्ले के सभी लोग चुप! जिन्होंने चिंगारी फेंकी, वे सही-सलामत बच गये। आग कुछेक कच्चे पक्के 'टपरों' पर पड़ी। गोलियां चली, भाले, छुरियां, बरछे चले···वह सब चला जिसकी 'जंग' को आदमी के खून से साफ करना ज़रूरी हो गया था। शहर कंगाल हो गया। यतीम हो गया। कर्फ्यू लगा, मिलिटरी आई। वी० आई० पी०, पत्रकार, दूर-दर्शन वाले आये और टूटे-फूटे टपरों और खाली, मायूस, मातमी चेहरों की मुर्दनी समेट कर ले

गये। हमारे शहर की सदियों पुरानी तहज़ीब और परम्परा में ऐसा 'तीज-त्यौहार तो कोई नहीं था। फिर यह सब किसने किया ?

चारों ओर लूटपाट, मारकाट, नोच खसोट ! और आग की भयंकर लपटें ! ये लपटें कुछ दिन पहले, और भी कुछ मासूम चेहरों, युवा जिस्मों को बीच चौराहे पर मिट्टी का तेल या पैट्रोल छिड़ककर दावानल की तरह भस्म कर चुकी थीं। मैं वह सब देखने का साहस नहीं बटोर सका। शायद पप्पू ने छिपकर वह सब भी देखा हो।

वह बूढ़ा अपने बालों को नोचता हुआ पागलों की तरह बड़बड़ा रहा था, "मेरा पूरा परिवार मार डाला। ज़ालिमों ने मेरे उस सबसे छोटे बेटे को भी नहीं बक्शा, जिसे हम चार महीने तक अस्पताल में रखकर मौत के मुंह से बचा कर लाये थे। इसी शहर के डॉक्टरों ने जी जान से उसका इलाज किया था। इसी शहर के लोगों ने उसे खून दिया था। इसी शहर के लोगों ने उसकी ज़िंदगी के लिए सभी पूजा स्थलों में दुआ, अरदास और प्रार्थना की थी। चार महीने तक वह ज़िंदगी और मौत से जूझता रहा लेकिन शुक्र है परमात्मा का, उस परवर दिगार का, वाहे गुरु का कि वह बच गया।···लेकिन ज़ालिमों ने उसे एक मिनट में···"

वह ज़ार-ज़ार रोने लगा। हमने उसे ढाढस दिया।

"मैं कसूरवार हूं। मैंने अपने सब बेटों को घर बुला लिया था। सब अपने-अपने काम-धंधे में घर से दूर-दूर थे। मैंने ही बुलाया कि छोटू के ठीक होने के जश्न में शरीक हों। दूर रहते तो शायद कुछ बच जाते। सारी ग़लती मेरी है···और साहब, मैं अपने बेटों को बार-बार कहता था कि घर का दरवाज़ा इस तरफ न रखो, यहां खिड़की न लगाओ। यह न करो। वह न करो···खैर ! दरवाज़ा कहीं भी होता, घर कहीं भी बनता, इस बहशी अंधड़ में गोली कहीं न कहीं तो लगनी ही थी ! फिर भी शुक्र है कि आप लोग बच गये। इस बहशी अंधड़ को रोको साहब। आप भाई लोग···"

उसका गला बिल्कुल रुंध गया और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। हमने उसे सहारा दिया और उसे अस्पताल ले गये।···

पप्पू नींद में फिर लड़बड़ाया है। मैं चौंककर अंदर आ जाता हूं। उसकी मां उसे थपकी देकर सुला रही है।

मैं किसी ज्ञात, अज्ञात, आशंका से डर रहा हूं। चारों ओर से मुझे अजीब-सा शोर सुनाई दे रहा है। मेरी बीबी घबरा कर मुझे देखती है। मैं उसे देखता हूं। उसके पीले चेहरे पर भी वही आशंका चस्पां है।

उसने धीरे से मुझे कहा, "सुनो जी, कल शाम जल्दी घर लौट आना। स्कूटर ठीक से चलाना। कहीं जलूस, हजूम, नारेबाजी, दंगा-फसाद हो, वहां मत जाना। यह न करना, वह न करना।"

मैं उसका मन बहलाने के लिए पूछ लेता हूं, "बस कि और भी कोई फरमाइश ?"

"हां, है एक छोटी-सी। कल की छुट्टी ले लो। मेरा मन न जाने क्यों धक्-धक् कर रहा है। दाहिनी आंख बार-बार फड़क रही है, पप्पू को भी कल की छुट्टी ले लो।"

मैं ठहाका लगाकर हंस पड़ता हूं, लेकिन मैं जानता हूं कि यह हंसी वह नहीं है जो दादा जी की डरावनी कहानियां सुनकर भी कभी कभार आ जाया करती थी। यह तो खोखली और बेदम हुई हंसी है !

"सुनो श्यामली, तुम फिजूल की फिकर छोड़ दो। तुम बस वहम करती हो। अब कुछ नहीं होगा यहां। सब बिलकुल ठीक हो गया है। सब शान्त है। कल मैं पप्पू की टॉफी का पैकेट, चंदामामा, पराग, चॉकलेट, बिस्कुट, क्रिकेट का बैट, सब लाऊंगा और उसे कहूंगा—गो एण्ड एनज्वाय।"

मेरी बीबी डरते-डरते सो गयी। मैं फिर अपने अध्ययन कक्ष में आ गया। नितांत उदास, आक्रांत और न जाने क्या कुछ सोचता हुआ।

कल पप्पू को कहूंगा "गो एण्ड एनज्वाय, तो वह कहां जाएगा ?"

मैं रात के निपट सन्नाटे में—सन्नाटा भी नहीं, सड़कों पर वाहनों का शोर है। कुछ पियक्कड़ गंदी गालियां बक रहे हैं, झगड़ रहे हैं। मेरे इस शहर की बत्तियां कुछ अजीब तरह से जल रही हैं।···अब आप ही कहिए 'अधमुंडिए राक्षस' की आंखें छाती से चिपकी नहीं होतीं तो कहां होती हैं ? छाती से इसलिए कि उसका मुंह अधमुंडा है। आंखों की ठौर देने को जगह बकाया नहीं। सोचने को दिमाग नहीं है। महसूस करने को दिल नहीं है।

वह देखता है छाती से। वार करता है पंजों से। छाती पर आंखें हैं तो पंजे करीब से दीखेंगे ! आदमी को मारना, पीटना, नोचना, यन्त्रणा देना उसका उत्सव है !···

फिर हमारे परंपरागत, धार्मिक, सांस्कृतिक, परस्पपर सौहार्द्र से भरे उत्सव कहां गये ? आज का अधमुंडिया राक्षस सरेआम, दिन-दिहाड़े वह सब कुछ कर रहा है जो दादा के दादा का अधमुंडिया राक्षस रात के निपट सन्नाटे में भी करने से थोड़ा झिझकता था।

मैंने आसमान की तरफ देखा, तारे टिमटिमाता रहे थे। मुझे पता था मेरा दोस्त डा० विनोद इस समय व्हिस्की पी रहा होगा। सोया नहीं होगा। मैंने टेलीफोन का नंबर घुमाया—

"हेलो···"

"हैलो,···अरे तुम, क्या हुआ भाई ?"

"यार, पप्पू रात को अक्सर जाग जाता है। कभी-कभी चीख पड़ता है। आजकल के बच्चों को बचपन से ही सहमने की आदत क्यों होती जा रही है ? क्या कोई एबनार्मिलिटी है ?"

"ओह नो···ओ यस।"

"यह कौन-सा जवाब हुआ विनोद ? लगता है तुम्हें शराब बहुत चढ़ गई है।"

"अरे नहीं यार, नींद नहीं आ रही थी। मन बेचैन-सा है यहां भी मुन्ना सोये-सोये दो बार चीखा।"

"अरे तुम डाक्टर हो···"

"हूं···वह तो है। खैर जाने दे। तेरी भाभी कहती है मैं कल की छुट्टी ले लूं और मुन्ने को भी कल स्कूल से छुट्टी ले लूं। तेरी भाभी को फिजूल का फिक्र रहता है।"

"देख विनोद···"

"हां, हां बोल, क्या बोलता है ?"

"खैर रहने दे। बैठकर बातें करेंगे। कल दोनों छुट्टी ले लेते हैं, बच्चों को भी कल की छुट्टी ले लेंगे।"

"देखो, कल क्या होता है ? शायद छुट्टी की जरूरत ही न पड़े···गॉड फारविड, कल शायद फिर कर्फ्यू लग जाये···!"

"हैं, क्यों, कैसे, फिर कोई गड़बड़, ···फिर कुछ···!"

मैं किसी जानी, अजानी आशंका से बहुत घबरा जाता हूं। मेरा दोस्त भी शायद बहुत डर रहा है। उसकी आवाज में घबराहट साफ सुनाई दे रही है, "गॉड ब्लैस अस ऑल···!"

मैं टेलीफोन का चोंगा कांपते हाथों से यन्त्रवत रख देता हूं। फिर उसे टकटकी लगाकर देखता हूं। थोड़ी देर में टेलीफोन का चोंगा यूं ही ऊपर उठाकर देखता हूं। टेलीफोन के सिर की जगह आंखें हैं। सिर है ही नहीं। उसके एक छोर पर एक आंख है। दूसरी छोर पर दूसरी आंख। वह बोलता भी आंखों से है। सुनता भी आंखों से है।

मेरे लक्कड़ दादा की कथा वाला अधमुंडिया राक्षस इस समूचे परिवेश से इस हद तक आत्मसात् हो गया है! मैं सहमकर टेलीफोन का चोंगा नीचे पटक देता हूं। ओह, गॉड ब्लैस अस ऑल!

[अंग्रेजी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, मंडी, हि० प्र०]

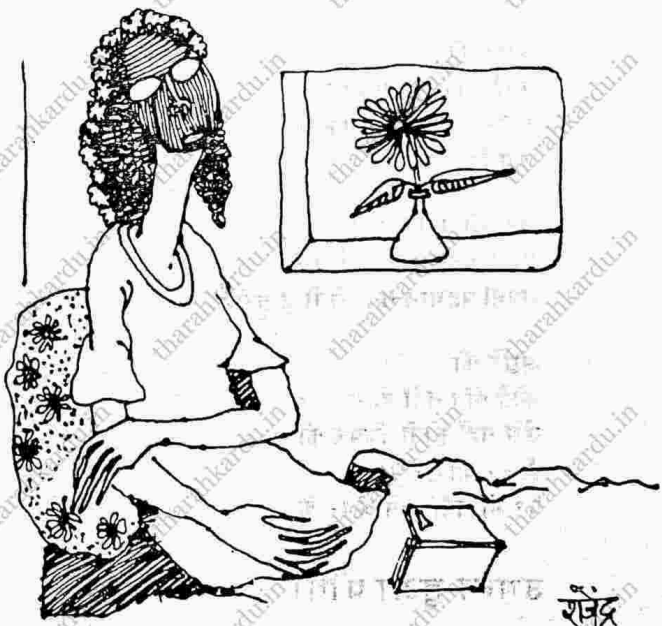

कविता

चार कविताएँ

□ शंभु गुप्त

अंधेरा

अंधेरे की
कोई ताकत नहीं होती
अंधेरे का होता है सिर्फ ख़ौफ़
जैसे कि ईश्वर का

एक छोटी सी तीली
या पीकर फेंकी हुई सिगरेट
अपनी पहचान बना लेती है तुरंत

अंधेरे की
कोई नींव नहीं होती
जैसे नहीं होती ईश्वर की
ईश्वर की तरह
पैर भी नहीं होते अंधेरे के

उगता हुआ पौधा

ज़मीन में पड़े बीज को मत छेड़ो
उसे अपनी प्रक्रिया से गुज़रने दो
तुम्हें कुछ करना है
तो सिर्फ इतना करो
इसे थोड़ी ओट दे दो

बीज को ज़मीन में डालकर
उसे भूल जाओ
उगता हुआ पौधा
तुम्हें खुद
सोते से जगा देगा

मेरी पत्नी

मेरी पत्नी
काम पर निकली है
ज़माने की जीभ
न निकल पड़े उसकी तरफ
इसी चिन्ता में
घुला जाता हूँ मैं

हालाँकि मैं जानता हूँ
यह चिन्ता निराधार है
फिर भी···
फिर भी···

खोटग्रस्त बच्चा

खोटग्रस्त बच्चे को छोड़कर
तैयारी करने लगे हैं वे अब
दूसरा बच्चा जनने की

दूसरे बच्चे में भी खोट होगा
तो वे तीसरा जनेंगे
फिर चौथा
फिर पाँचवा

खोटाग्रस्त बच्चों की जमात छोड़कर
एक दिन वे
भगवद्भजन में जुट जायेंगे

दो कविताएँ

□ ईना कंवर

जलाशय का चेहरा

मैं एक छोटा-सा जलाशय थी
ठहरा हुआ पारदर्शी जल निर्मल मन

उस शाम गुज़रते हुए
तुम पल भर के लिए रुके और
उछाल दी एक फूल मुस्कान
जलाशय का अंतर हिला और
तरंगों में फैलता गया

उस शाम के बाद
मैंने तुम्हारे नाम कर दीं कई शामें
रोम रोम खिल उठते अनगिन कमल
तुम्हारी मुस्कान के साथ
कहीं कांप उठता अंतरतम
और कमल कमल फैल जाती कंपन
मुझे देख कहता सारा शहर—
निखर आया है लड़की का रंग
इधर बहुत दिन हुए
तुमने आना ही छोड़ दिया
कह रहा है मेरा शहर—
मुरझाया है लड़की का चेहरा
और जलाशय के सारे कमल